

## आध्यात्मिक जीवन के आदर्श

पर्युषण पर्वों पर हम अपना आत्मोत्थान कर सकते हैं। विकारों को दूर कर मानस को पावन बना सकते हैं। कर्म मल को धो सकते हैं। परम आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। पर्युषण पर्व के ये आठ दिन ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

हमारे आध्यात्मिक जीवन का आदर्श ही माया-मोह को त्यागना है। कर्म मल से छुटकारा पाना है। क्रोध से दूर रहकर आत्म शुद्धि का आनन्द और सुख प्राप्त किया जा सकता है। बारह मास के बाद आने वाला यह पर्युषण विकार धो देते हैं, इसलिए साधना की तैयारी आवश्यक है। साधना के अभाव में ही हम भटकते हैं, हम अपने अन्दर झांक कर देखें और विकारों को दूर करें। इसी से समता का आनन्द लिया जा सकता है।

धर्म स्थान में आकर भी अगर हमारे मानस में संकल्प-विकल्प उठते हैं। साधना को महत्व न देकर दुकान जाकर व्यापार को ही अधिक महत्व देते हैं तो हम अपने दृढ़ निश्चय से हटते हैं। धर्मस्थान में भी ऐसे विचार मन में उठते हैं तो हमारी धर्म साधना अधूरी रह जाती है। इसीलिए आध्यात्मिक जीवन जीने की कला सीखनी चाहिये।

### सुमति चरण रज आतम अर्पण.....

मनुष्य जीवन इस सृष्टि का विशिष्ट जीवन होता है। इसके तुल्य अन्य कोई जीवन विश्व में नहीं है। धर्म की आराधना करने की दृष्टि से देवता का जीवन भी इसके समान सक्षम नहीं होता है। देव योनि से देवता मनुष्य लोक की तरफ ही बढ़ते हैं। वहां से अधोगामी बनते हैं, उर्ध्वगामी नहीं। मानव जीवन ही एक ऐसा विशिष्ट जीवन है जो आत्मा के लिए उर्ध्वगामी प्रसंग उपस्थित कर सकता है।

इस विराट् विश्व में इन्सान ने अनेक तरह के अनुसंधान किये हैं और नये-नये आविष्कार प्रस्तुत किये हैं। इन नये अनुसंधानों और आविष्कारों को देख कर स्वयं इन्सान ही चकित हो रहा है। कहां तो आदिमकाल का मानव और कहां आज बीसवीं सदी का मानव ? उस मानव और आज के मानव का तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस वक्त कितने पिछड़ेपन की स्थिति थी और आज उसने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में कितना अधिक विकास कर लिया है ?

आज के पूर्व में कई विशिष्ट आत्माओं ने जो आध्यात्मिक जीवन के आदर्श उपस्थित किये हैं, उन आदर्शों को आज के पर्युषण पर्व के प्रसंग से चिन्तन में लाने का सुवसर प्राप्त है। वे आध्यात्मिक आदर्श भी आज जनमानस के सामने हैं, जो अनुकरणीय हैं।

### सच्ची तृप्ति:

पर्युषण पर्व की बहुत दिनों से प्रतीक्षा की जा रही थी कि कब पर्युषण पर्व आवे और कब अपने जीवन की आन्तरिक शुद्धि करें ? जीवन में जब आत्मा का परम स्वरूप अभिव्यक्त होता है तभी परमानन्द का रसास्वादन उत्पन्न होता है। यह जीवन अपनी वृत्ति से रस लेने की आदत में है, लेकिन जिस रस का आस्वादन लिया जा रहा है, वह रस खंडित है, टूटा हुआ है, मधुर नहीं है स्निग्ध नहीं है। संसार में ऐसे रस से न कभी तृप्ति हुई, न वर्तमान में हो रही है और न भविष्य में होने वाली है।

जीवन में सच्ची तृप्ति यदि किसी रस से होगी तो वह परमानन्द का रस है। मूल रूप से यह रस ही जीवन के लिये तृप्तिदायक हो सकता है। शास्त्रीय वचनों को आपने कुछ श्रवण किया होगा। (सेवन्त मुनि जी प्रतिदिन की तरह आज भी शास्त्रीय वचनों का प्रसंग उपस्थित कर गये। लेकिन शास्त्र में अन्तर पड़ा। प्रतिदिन प्रभु महावीर की प्रथम वाणी रूप आचारांग सूत्र का विवेचन चल रहा था और आज अन्तगढ़ सूत्र आरंभ हुआ है) यह सूत्र अन्तकृत याने खंडित रस का अन्त करने वाला, शाश्वत रस का बोध देने

वाला तथा अजर अमर पद को प्राप्त कराने वाला है- इन पर्युषण पर्व के लिये यह विशिष्ट शास्त्र अन्तगढ़ सूत्र है, जिसमें विशिष्ट पुरुषों तथा विशिष्ट सन्नारियों के आध्यात्मिक आदर्शों पर प्रकाश डाला गया है।

आध्यात्मिक जीवन के आदर्श ही वास्तव में मानव मन को अनुप्राणित करते हैं तथा उसको ऐसा सुन्दर मोड़ देते हैं कि जीवन में सच्ची तृप्ति दिला कर रहते हैं। अन्तगढ़ सूत्र में वर्णित महान् आध्यात्मिक जीवनो के आदर्श यदि मानव के मस्तिष्क में बार-बार उभरते रहें तो आज का मानव भी अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास करता हुआ उस रस का आस्वादन ले सकता है जिस रस को परम उत्कृष्ट एवं अनुपम आनन्द का रस कहा गया है। यह ऐसा आनन्द है जो प्राप्त हो जाने के बाद न कभी कम होता है और न कभी टूटता है। आत्मा ऐसे अखूट एवं अटूट परमानन्द को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर बने तथा उसकी प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों को अपनावे-यह पर्युषण पर्व की विशिष्ट साधना से अपेक्षित माना गया है।

### आध्यात्मिक जीवन:

यह ध्यान रखें कि परमानन्द का रस बिना किसी श्रम या पुरुषार्थ के प्राप्त हो जाने वाला नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों का अनुपालन करें तथा अपनी अन्तरात्मा को विशुद्ध बना लें तब कहीं जाकर उस परमानन्द की अनुभूति संभव बनती है। अन्तगढ़ सूत्र में जिन आध्यात्मिक जीवन के उच्च आदर्शों का उल्लेख आया है, उससे ऐसी सुन्दर प्रेरणा मिलती है कि उसका वाचन प्रतिवर्ष क्या, प्रतिदिन, प्रतिघंटों और प्रतिपल किया जाना चाहिये। यह क्यों? यह इसलिये कि जिस आध्यात्मिक जीवन के परमानन्द का अंकुर पहले लगायेंगे तो उसके नियमित सिंचन की आवश्यकता रहेगी, क्योंकि नियमित रूप से उसका सिंचन होगा तभी वह यथासमय वृक्ष रूप में पल्लवित, पुष्पित एवं फलित बन सकेगा एतदर्थ जीवन में पहले आध्यात्मिक आदर्शों का भली-भांति पालन किया जाय और फिर उसका विधिवत् सिंचन किया जाता रहे।

जब तक आध्यात्मिक जीवन का यह अंकुर वृक्ष का रूप न लेले तब तक उसकी पूर्ण सुरक्षा भी की जाय। उसकी सुरक्षा एवं अभिवृद्धि के प्रयत्नों में किसी रूप में कमी नहीं आनी चाहिये। कभी कभी इस कार्य में प्रमाद भी आ सकता है, लेकिन धर्माधना के ऐसे विशिष्ट पर्वों के अवसर पर उत्साहपूर्ण प्रयत्न चलने चाहिये। जब यह अंकुर मजबूत वृक्ष का रूप ले लेगा, तब तो यह आध्यात्मिक जीवन भी परिपुष्ट बन जायगा। फिर तो यह वृक्ष इतना संपुष्ट बन जायगा कि इसके तने को सैंकड़ों हाथी हिलाना चाहें तब भी यह नहीं हिलेगा। वैसा आध्यात्मिक जीवन घोरतम आपदाओं के बीच में भी अविचल बना रहता है। वह एक प्रकार से कल्पवृक्ष बन जाता है जो स्वयं तो सम्पन्न होता ही है, लेकिन दूसरों को भी मनचाहे फल प्रदान करता है।

ऐसा कल्पवृक्ष वृक्ष रूप में तो युगलिक दोनों में आज भी विद्यमान तथा समय-समय पर उसका प्रादुर्भाव होता रहता है, परन्तु यह मानवीय जीवन का कल्पवृक्ष विरल अवस्था में ही प्राप्त होता है। इस मानव जीवन में यदि परमानन्द का अभीष्ट रस पैदा करना है और सदा के लिए आत्मिक सुख शान्ति की उपलब्धि करनी है तो संत समागम के माध्यम से इस जीवन में आध्यात्मिक आदर्शों का अनुपालन आरंभ कर देना चाहिये ताकि इस श्रेष्ठ जीवन का अंकुर आध्यात्मिक रस से सिंचित किया जा सके। यह रस का पौधा बहुत कोमल होता है, इसलिये इसका सिंचन बराबर होना चाहिये। शायद संतों के विहार कर जाने के बाद इसके सिंचन में कुछ न्यूनता आ जाय तो फिर भरपूर सिंचन के लिये तैयारी कर लीजिये। इसका ध्यान प्रतिक्षण रखेंगे तभी आध्यात्मिक रस निरन्तर बढ़ेगा, क्योंकि ध्यान भूलने पर इसकी जड़ों के सूख जाने की आशंका रहती है। इस कारण आध्यात्मिक जीवन के आदर्श सदा सामने रहने चाहिये जो इस मानव जीवन को सतत रूप से अनुप्राणित करते रहें।

### वर्तमान जीवन:

आध्यात्मिक जीवन की शक्तियाँ जब कुंठित होती हैं, तब व्यक्ति भौतिक शक्तियों के झूले में बेभान होकर झूलने लगता है। इसी वृत्ति का परिणाम है कि आज का वातावरण विक्षुब्ध और अशान्त प्रतीत होता है और ऐसा लगता है जैसे चारों ओर से त्राहिमाम् त्राहिमाम् की पुकार गूंज रही हो। इस का शमन करने के लिये तथा आध्यात्मिक शक्तियों को प्रबल बनाने के लिये साधना का यह सुन्दर प्रसंग उपस्थित हुआ है।

(अभी ज्ञानमुनि जी ने रूपक के प्रसंग से तीन व्यक्तियों की बात कही कि वे पाप की स्थिति से चिन्तित हो अपने आपके जीवन को शुद्ध बनाने की सोच नहीं पा रहे थे लेकिन उनके बीच में भी जैसा रास्ता निकला, वैसा ही रास्ता आज भी निकल सकता है।) आज का मानव जब अपने अन्तःकरण को देखता है, अपने अन्तर से अवलोकन करता है तो उसे उस स्वरूप पर बड़ी खिन्नता होती है। तब उसके मन में चिन्तन उठता है कि उसका जीवन कितना कालिमामय है? ऊपर की पोषाक तो साफ सुथरी है लेकिन

अन्तर्पट को देखें तो वहां कुविचार और कुकृत्य अपना आसन जमाये बैठे हैं। तब वह कुकृत्यों को मिटाने का और सुकृत्यों के समीप जाने का संकल्प करता है। ऐसे जीवन निर्माण की भावना तब सहज रूप में उस भव्य के मस्तिष्क में उद्भूत होती है, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपने अन्दर खोज करने की कोशिश करता है। उपदेश श्रवण करने की दृष्टि से वह उपदेश सुनाता है और सोचता है कि आदर्श जीवन और उसके वर्तमान जीवन के बीच में कितनी खाई पड़ी हुई है ? वह उस खाई को पाटने में क्रियाशील बनना चाहता है। वह क्रियाशीलता तभी सजीव बनती है जब महान् आध्यात्मिक पुरुषों के जीवन-आदर्श उसके समक्ष आते हैं और वह उनसे प्रेरणा लेता है।

इस सक्रियता के समय इस सतर्कता की जरूरत रहती है कि अपनी आध्यात्मिक शक्तियां कुंठित नहीं हो जावें, क्योंकि स्वरूप तुलना की दृष्टि से कभी-कभी मानव हतोत्साहित भी हो जाता है कि वह अपने इतने मलीन स्वरूप के साथ आध्यात्मिक उज्वलता को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? ऐसा हतोत्साह अगर बल पकड़ लेता है तो उसकी प्राप्त आध्यात्मिक शक्तियां भी कुंठित हो जाती हैं और उसके जीवन का उद्धार कठिन बन जाता है। प्रारंभिक प्रयत्नों में भी ऐसी कुंठा पैदा हो जाने का खतरा रहता है क्योंकि मानव जब अपनी अशुभ वृत्तियों और प्रवृत्तियों को शुभकारी मोड़ देना चाहता है तो बार-बार उसे असफलता मिलती है। वह रात दिन उलझता है और इस उलझन में उसका उत्साह शिथिल पड़ जाता है। इसलिये इन आध्यात्मिक शक्तियों को कुंठित होने से रोकना चाहिये और उत्साह और साहस का वातावरण बनाये रखना चाहिये। उसी वातावरण के निर्माण के लिये यह अष्ट-दिवसीय पर्व बहुत अनुकूल है।

आप हतोत्साहित न हों, तन्मयता से धर्म साधना में लगे और अपने आध्यात्मिक जीवन की प्रगति करते रहें। कुंठा उत्साह नहीं होने की दशा में ही पनपती है अतः उत्साह को शिथिल न होने दें तथा उसको पुरुषार्थ में ढालते रहें तो आध्यात्मिक शक्तियां कुंठित होने से बची रहेंगी, बल्कि वे प्रखर बन जायगी।

## आवत पर्दों को :

एक विकासशील व्यक्ति को सदा अपने जीवन को तथा आत्म-स्वरूप को देखते रहना चाहिये। इन्हें वह किस प्रकार देखें ? पर्दों की ओट से देखें या पर्दों को हटा करके देखें ? इस आत्म-स्वरूप पर जितनी परतें हैं, जितने पर्दें हैं, उन पर्दों के पीछे जो कुछ है, उसको देखना है। इस कारण उन पर्दों को पहले उठारेंगे और हटारेंगे तभी अन्दर के जीवन को देख सकेंगे। जीवन को आदर्श सम्पन्न बनाने के लिये उसको अन्दर से ही देखना, टटोलना और सुधारना होगा।

कल्पना करें कि अनेक वस्त्रों से आच्छादित एक चिन्तामणि रत्न पड़ा हुआ है, उसको कोई व्यक्ति कैसे देख सकेगा ? जब वह उस रत्न पर ढके हुए कपड़ों को हटायगा। वे कपड़े एक के बाद दूसरे के रूप में हटते जायेंगे तब प्रकाशमान रत्न दृष्टि में आयगा। इन कपड़ों को हटाना तो सहज है, लेकिन आत्म-स्वरूप पर पड़े हुए पर्दों को हटाना बहुत कठिन है। हां, असंभव नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के आदर्श व्यावहारिक रूप से भी परिपुष्ट बन जाँय तो आत्मा यह कठिन कार्य सम्पन्न करने में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकती है।

पर्युषण पर्व का इतना अधिक आभ्यन्तर महत्त्व माना गया है कि यह आठ दिनों की धर्मसाधना एक दृष्टि से बारह महीनों के लिये पर्याप्त हो सकती है। एक पुरुष कदाचित् अपने व्यवसाय में लगा रहे और एक माह तक अपने वस्त्रों को नहीं धोवे तो उसके वस्त्र कितने मैले हो जायेंगे ? और उन वस्त्रों को वह धोने की कोशिश करें तो वह उन्हें कितने समय में धो सकेगा ? एक महीने के मैले कपड़ों को वह एक या दो घण्टों में धोलेगा। जब कपड़े धोने की पक्की इच्छा हो जाती है तो वह एक महीने की धुलाई दो घण्टों में कर लेता है। एक छात्र भी साल भर पूरी पढ़ाई नहीं करता लेकिन परीक्षा के समय एक दो माह पढ़ाई करके उत्तीर्ण हो सकता है। उसी प्रकार बारह माह के पापों को धोने में और आध्यात्मिक जीवन की एक परीक्षा उत्तीर्ण करने में कितने समय की आवश्यकता होगी ? यह कार्य चौबीस घण्टों में किया जा सकता है और उसके लिये संवत्सरी महापर्व का आयोजन किया जाता है लेकिन उस महान् कार्य की तैयारी के लिये पहले सात दिन और रखे गये हैं। इस समय में शुद्धि करण की सारी सामग्री जुटा लेनी चाहिये तथा मानसिक तैयारी पूरी कर देनी चाहिये। जैसे महीने भर के मैले वस्त्रों को धोने के लिये साबुन, सोडा, पानी आदि की जरूरत पड़ती है, वैसे ही इस आत्म-स्वरूप के मैल को धोने के लिये सात दिन की तैयारी का प्रसंग है-जीवन को अंदर से देखने का प्रसंग है। ये सात दिन बहुत हैं-सात दिनों में जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ सकता है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से

यदि कोई व्यक्ति आज किसी औषधि का सेवन करता है तो सातवें दिन वह अपना प्रभाव अवश्य दिखा देती है। शरीर में रस का परिवर्तन सात-सात दिनों में होता रहता है क्योंकि इसमें भी बड़े रूप में सात तत्व माने गये हैं। आयुर्वेद में इसका उल्लेख आता है।

जैसे शरीर में रासायनिक परिवर्तन सात दिन की अवधि में अच्छी तरह से हो सकता है, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में रासायनिक परिवर्तन लाने के लिये विशिष्ट ज्ञानियों ने सात दिन रखे हैं। आठवां दिन पूर्ण उपासना का संवत्सरी दिन रखा गया है। इसलिये इन सात दिनों में अपना अवधान करें, जिसका अर्थ है कि अन्तरावलोकन करें और परमानन्द के बीच में आने वाले पदों को दूर हटा दें।

संसार की प्रत्येक आत्मा का मूल स्वरूप सिद्धों की आत्मा के तुल्य शुद्ध और स्वच्छ होता है, किन्तु संसार में परिभ्रमण करते हुए उस पर कर्मों की परतें चढ़ती जाती हैं, जैसे कि एक स्वच्छ दर्पण पर धूल की परतें जमती जाती हैं। ये परतें सामान्यतया इतनी गाढ़ी हो जाती हैं कि मूल स्वरूप लुप्त हो गया हो वैसा लगता है। आपने ऐसा दर्पण देखा होगा जिस पर वर्षों से धूल मिट्टी की परतें चढ़ती रहती हैं तो उस का दर्पण भाव याने कि आकृति दिखाई देने की स्थिति ही समाप्त जैसी हो जाती है। इन परतों को आवरण रूप होने से पदों भी कह सकते हैं। इन्हीं पदों में आत्म-स्वरूप दब सा जाता है, इसलिये इन पदों कर्म बंध के आवरणों को हटावें तभी आत्म-स्वरूप की प्रखरता एवं उज्वलता प्रकट हो सकती है।

दर्पण तो जड़ होता है, लेकिन एक तो देखने वाला अपनी आकृति को धुंधले दर्पण में देखे और एक वही आकृति स्वच्छ किये हुए दर्पण में देखी जाय तो देखने वाले को आनन्द आवेगा कि उसकी आकृति कितनी स्पष्ट दिखाई दे रही है? वैसे ही आत्मा भी जब निरावरण हो जाती, तब उसका प्रकाशमान रूप निखर उठता है। जब अपना रूप निखरता है तो प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही है। इस स्वरूप दर्शन से आत्मा का रंजन होता है। यह आत्म-रंजन की अवस्था स्थायी भी रखी जा सकती है यदि उसके स्वरूप पर चढ़े पदों हटा दिये जाय तथा नये पदों नहीं चढ़ने दिये जाय।

आत्मा का यह रंजन-कार्य इस महापर्व के अवसर पर पूर्ण निष्ठा से सम्पन्न किया जा सकता है। इसकी वजह से इस पर्व में अपूर्व आनन्द का अनुभव भी किया जा सकता है। इस कविता की पंक्तियां दोहराना मैं उपर्युक्त समझता हूँ-

**यह पर्व पर्युषण आया, दुनिया में आनन्द छाया रे।  
करे कोई बेला और तेला, कोई देवे कर्मों का ढेला रे ॥  
क्रोधादिक दोष मिटावां, निज आत्म-शुद्धि करावां रे।  
यह पर्व पर्युषण आया, दुनिया में आनन्द छाया रे।**

क्या यह पर्व पर्युषण सन्तों के लिये ही आया है या भाई-बहिनों और श्रोताओं के लिये भी आया है? आपको ज्ञात है कि आप जब विवाह शादी के प्रसंग पर प्रसन्न होते हैं तो बहिनें गीत सुनाती है। गीत गाना यह हर्ष की अभिव्यक्ति का साधन है। सामूहिक वाणी के उच्चारण से वायुमंडल में एक परिवर्तन सा आता है। हर्ष हृदय में आता है- आनन्द से मन ओत-प्रोत बनता है तो वह बाहर में भी अभिव्यक्ति होता है। मैं इस आनन्द को आपके इस त्रिवेणी (गंगाशहर, भीनासर व बीकानेर) संगम के साथ जोड़ देता हूँ-

यह पर्व पर्युषण आया, त्रिवेणी में आनन्द छाया जी.....

देखिये इस त्रिवेणी के अन्दर जीवन की पवित्रता प्राप्त करने के लिये भाई और बहिनें दूर-दूर से आये हुए हैं। ये सब किसलिये उपस्थित हुए हैं? यहां सन्तों के समागम में पर्व की आराधना करने के लिये आये हुए हैं और यह आराधना क्या है? इस आराधना का उद्देश्य है आत्मा का रंजन और आत्म-रंजन तभी होगा जब आत्मा के निज स्वरूप के ऊपर आये हुए पदों का आवरण हटा दिया जायगा।

**अंतगढ़ सूत्र ही:**

अन्तगढ़ सूत्र वही है। समुद्र वही है लेकिन जो गहरी डुबकी लगाता है, वह रत्न खोज कर ले आता है। इसमें यह नहीं है कि एक बार डुबकी लगाली तो समुद्र की खोज पूरी हो गई। यह डुबकी लगाने वाले के साहस की बात है कि जितनी बार और जितनी गहरी डुबकी वह लगायेगा, उतने ही नये-नये और मूल्यवान् रत्न वह प्राप्त कर सकेगा। समुद्र का खजाना कभी खाली नहीं होता। उसी तरह आप यह न समझें कि प्रति वर्ष यह अन्तगढ़ सूत्र ही बार-बार क्यों सुनाया जाता है? इसमें वर्णित महान् विभूतियों के

जीवन पर तथा उनके आदर्शों पर वस्तुतः बार-बार चिन्तन करने की आवश्यकता होती है क्योंकि जितनी बार और जितनी गहराई से इन आध्यात्मिक आदर्शों का श्रवण एवं चिन्तन किया जायगा तो उनमें से नये-नये विचार रत्न प्रस्फुटित होंगे। इस सूत्र में कितने आध्यात्मिक जीवनियों के उत्कृष्ट रत्नों का उभार किस-किस रूप में आया है और क्यों आया है-इसका ज्ञान आपको सुनने से ही होगा। सुनकर आध्यात्मिक तत्त्वों को समझें तथा उन्हें अपने जीवन में ग्रहण करने की तत्परता बतावें। यदि यह कार्य आप पवित्र भाव से करें तो बारह मास की आत्म-शुद्धि का प्रसंग केवल पर्युषण पर्व में ही सम्पन्न कर सकते हैं।

आत्म-स्वरूप पर छाये हुए आवरणों को दूर करना है तथा आध्यात्मिकता के आदर्शों को प्राप्त करना है तो साधना में कुछ गहरी डुबकी लगाने का भी आपको संकल्प लेना चाहिए। आप सम्पूर्ण निवृत्ति ले सकें तो अत्युत्तम है लेकिन इन आठ दिनों की स्थिति के प्रसंग से तो निवृत्ति की पूर्ण अपेक्षा है। यह अपेक्षा पूरी हो इसके लिये आत्म-ज्ञान पर आये हुए आवरण को पहले दूर कर देना जरूरी है। इस आवरण को मैंने उपाधि की संज्ञा दी है। जितने अंशों में आप इन उपाधियों से छुटकारा पा लेंगे, उसी रूप में आप आध्यात्मिक जीवन के आनन्द के समीप पहुंच सकेंगे। इन उपाधियों में से एक उपाधि संसार सम्बन्धी व्यवहार की भी है। व्यापार तथा आजीविका सम्बन्धी जितने कार्य हैं, वे भी संसार की दृष्टि से जरूरी होते हैं, लेकिन इन कार्य को भी आठ रोज के लिये विश्राम दिया जा सकता है। ऐसी निवृत्ति बड़े भी लें और बच्चों की भी दिलावें। बच्चों के मन पर सही संस्कार जमाने के लिये उनकी भी आठ दिन तक यथायोग्य साधना में लगाना उनके भावी जीवन के लिए हितावह होगा। इस रूप में इस पर्व की आराधना पूर्ण निवृत्ति भाव से सारे परिवार के साथ करने का कार्यक्रम शुरू कर दें।

जब तक इन्सान सांसारिक विषयों में लगा रहता है, तब तक जीवन में गहरी आध्यात्मिकता ही नहीं जागती है और उसके बिना आदर्शों की क्रियान्विति कैसे हो तथा कैसे परमानन्द की अनुभूति आवे? आध्यात्मिक आदर्शों के रत्न आसानी से नहीं मिला करते हैं, उनके लिये आत्म-साधना में गहरी से गहरी पैठ होनी चाहिये। गहरी डुबकी के बिना सारपूर्ण वस्तु कहां मिलती है?

### उपाधियों से:

इस अल्प समय की निवृत्ति से दो तरह के लाभ होंगे। एक तो पूर्ण निवृत्ति कैसी होती है, उसमें आत्मा की संलग्नता किस प्रकार सुखदाई बनती है तथा स्वरूप दर्शन की स्थिति किस रूप में समीप आती है- इसका प्राथमिक अनुभव प्राप्त होगा और इस अनुभव में भी जो आन्तरिक आनन्द मिलेगा, उससे पूर्ण निवृत्ति की अवस्था को अवश्य ही प्रेरणा प्राप्त होगी। दूसरा तात्कालिक लाभ यह है कि साधना में एकाग्रता की अवस्था विकसित हो सकेगी। क्योंकि निवृत्ति नहीं है तो मन अस्थिर बना रहता है। आप व्याख्यान में आ गये, बैठ भी गये, लेकिन मन में संकल्प-विकल्प आते रहते हैं कि जल्दी जाना है, दुकान खोलनी है या अमुक-अमूक कार्य करने हैं। यह उपाधि-धर्मस्थान में भी साथ में लगी रहती है और जब तक उपाधि लगी रहती है, आध्यात्मिक जीवन की साधना अधूरी ही रह जाती है। इसलिए आठ दिन के लिये उपाधियों व विकारों से छुटकारा पाने के लिये निवृत्ति अवस्था स्वीकार कर लें अथवा दूसरे शब्दों में यह कहें कि दो करण तीन योग से दया, पौषध, उपवास आदि के साथ आप आठ दिन तक आध्यात्मिक जीवन की कला सीखने का प्रयत्न करें।

अन्य दिनों में जैसे शिविर के प्रसंग बनाते हैं, वैसे ही समझिये कि यह आठ दिनों के साधना स्वाध्याय शिविर का प्रसंग है। इस प्रसंग से शास्त्रों का श्रवण मिलेगा तो ध्यान, मौन आदि की साधना एवं ज्ञान चर्चा का अवसर प्राप्त हो सकेगा। कदाचित् घरेलू परिस्थितियों के कारण पूर्ण निवृत्ति नहीं ले सकें तो आठ रोज के लिए यथासाध्य विकारों से छुटकारा जरूर लें। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, निरपराध प्राणी की हिंसा से निवृत्ति, झूठ नहीं बोलना, वचनों का दुरुपयोग नहीं करना, बिना आज्ञा वस्तु नहीं उठाना, रात्रि भोजन नहीं करना, क्रोध का शमन करना, यथा शक्ति तपश्चर्या करना आदि व्रत तो अवश्य ग्रहण करें ही। जैसे बेला, तेला, अठाई, मासखमण आदि अनशन तप करते हैं, वैसे ही क्रोध शमन की, मान-दमन की, माया निवारण की तथा लोभ संवरण आदि की अठ्ठाइयां और नौरंगियाँ भी करिये। यह भाव-तप और भी ऊँचा होता है और कठिन भी। इससे आत्म-शुद्धि विशेष रूप से होती है। इस प्रकार विकारों से छुटकारा पाना बहुत जरूरी है। विकार छूट जाते हैं तो बहुत करके उपाधियां भी छूट जाती हैं। निर्विकारी अवस्था आध्यात्मिक जीवन की कला सीखने के लिये परम सहायक हो जाती है। आध्यात्मिक जीवन की कला को जो सीख लेता है, वह आत्मज्ञान का चतुर कलाकार बन जाता है।

### निर्विकारी भावना:

अन्तगढ़ सूत्र में जिन महापुरुषों के जीवन के बारे में आप सुन चुके हैं, उनके जीवनो के किन-किन रहस्यों का मैं उद्घाटन करूँ? उनका एक-एक आदर्श जीवन को प्रभावित करने वाला है। उन महापुरुषों को कितनी वैभव-शाली अवस्था मिली, उस वैभव का भी उन्होंने खुशी-खुशी त्याग कर दिया। यही त्याग नहीं-कनक के साथ कान्ता का भी उन्होंने त्याग किया। आप जानते हैं कि कनक और कान्ता दोनों के दृश्य बड़े लुभावने होते हैं। कनक और कान्ता को लोहे की बेड़ी से भी ज्यादा दुश्वार माना है। यौवन अवस्था में उनका परित्याग करके साधना में लग जाना सामान्य आदर्श नहीं है-यह अनुपम आदर्श होता है।

इन महापुरुषों ने श्रेष्ठता के साथ मुनि धर्म का पालन किया तथा समभाव से अपने ऊपर आए संकटों को सहा। साधु के लिये भिक्षाचरी का विधान क्यों किया गया? इसीलिये कि वे जीने के लिये खावें-खाने के लिये नहीं जीएं। इससे साधना में अवरोध पैदा नहीं होता है। उपनिषद् में एक वाक्य आया है कि संसार में अधिकांशतः सोने से सत्य का मुंह ढक दिया जाता है क्योंकि सत्य असत्य नहीं होता है। साधु इस रूप में सत्य से परे न हटे-इसके लिये भिक्षावृत्ति बड़ी सहायक रहती है। इसमें भी आहार के जो दोष बताए हैं, उनको टालकर जब साधु भिक्षा लाता है तो उसके किसी भी बाहरी शक्ति से किसी भी रूप में दबने का प्रसंग पैदा नहीं होता है। वह स्वतन्त्र रहता है तो स्वतन्त्रचेता बनता है और स्वतन्त्र उपदेशक होता है। ऐसा स्वतन्त्रचेता साधक निर्विकारी भाव से अपनी साधना में लगा रहता है और आन्तरिक जीवन के नानाविध रहस्यों का उद्घाटन करता रहता है।

जिस इन्सान ने बारह माह में कपड़े नहीं धोए, जिस इन्सान ने बारह माह में कभी आत्म-शुद्धि नहीं की तो फिर वह इन्सान इन्सानियत के लायक ही कहाँ रहता है? आत्म-शुद्धि की दृष्टि से शास्त्रकारों ने सन्त जीवन के लिये तो यहां तक संकेत दिया है कि कदाचित् तुम्हारा किंचित मात्र भी किसी से मनमुटाव हो जाय तो उससे पहले ही उस विकार का शमन करने के लिए क्षमा मांगलें। कभी हठीला मन तैयार नहीं हो तो फिर तुरन्त दूसरी बार क्षमायाचना करलें-नहीं तो प्रतिक्रमण के समय तो अवश्य करलें। अभिप्राय यह है कि आत्म-शुद्धि के कार्य में तनिक भी विलम्ब नहीं होना चाहिये। क्योंकि जरा सी असावधानी भारी मैल को जमा कर सकती है जिसको बाद में धोना अधिक दुष्कर हो जाता है। आत्म-शुद्धि की साधना को आध्यात्मिक जीवन का आदर्श मानकर चलना चाहिए।

जीवन की मूल समस्या ही यह है कि आत्म-शुद्धि हो तथा वह बनी रहे। आत्मभावों में विशुद्धता रहती है तो लौकिक जीवन भी नैतिक और शालीन बनता है तथा आध्यात्मिक जीवन के आदर्श तो अलौकिक रूप से निखर उठते हैं। आत्म-शुद्धि के प्रति सतर्क दृष्टि आवश्यक है।

गंगाशहर-भीनासर

22-8-77

## अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान

*शरीर को संचालन करने वाली शक्ति का नाम आत्मा है। इसीलिये आत्मा के स्वरूप को जानना आवश्यक है। जीवन का आधार शरीर नहीं, आत्मा ही है। आत्मा की महक छिप नहीं सकती, इत्र की तरह महक उठती है।*

*क्या पत्थर में कस्तूरी की महक आ सकती है?*

*पत्थर पर कस्तूरी का पट लग जाने से गन्ध आने लगती है। मृग कस्तूरी के लिए भटक-भटक कर जीवन खपा देता है। मगर कस्तूरी उसके हाथ नहीं लगती। उसी तरह माया-मोह में फंसने वाला व्यक्ति जीवन भर भटकता रहता है, मगर उसके कुछ हाथ नहीं लगता।*

*सभी सच बोलने का आग्रह करते हैं, मगर सच कौन बोलता है।*

सुमति चरण रज आत्म अर्पणा.....

इस चैतन्य स्वरूप आत्मा की विचित्र कहानी इस ब्रह्मांड के अन्दर व्याप्त हो रही है। इस आत्मा की शक्तियों का जो कुछ भी प्रचार और प्रसार ब्रह्मांड के सभी क्षेत्रों में विद्यमान है, वह किसी न किसी रूप में अपना चमत्कार दिखा ही देता है। जहां कहीं भी विवेक का दीपक जलता हुआ दृष्टिगत होता है, वहां सोचना चाहिये कि यह आत्मा की शक्ति प्रस्तुत हो रही है। जिस किसी भी स्थल पर कुछ भी चहल-पहल, हलन-चलन होती है, वहां भले ही आत्मा के स्वरूप को पहिचानने वाला हो या न हो, लेकिन आत्मा की सुगन्ध वहां छिप नहीं सकती है। इत्र का फोहा भले ही जाजम के पट के नीचे रख दिया जाय, लेकिन उसकी सुगन्ध जाजम की ऊपर की सतह पर आ ही जायगी। साधारण व्यक्ति तो ऊपर से ही इस पट को सूंधने का यत्न करेगा और सोचेगा कि यह जाजम सुगन्धित है-इस कपड़े में इत्र है। वह यह नहीं सोच पाएगा कि यहां इस जाजम के नीचे कहीं पर इत्र का फूहा पड़ा हुआ है, जिसकी सुगन्ध यहां आ रही है।

इसी प्रकार सामान्य जन इस ऊपर के शरीर को देखता है तथा इसी शरीर को जीवन का मूलाधार समझ लेता है। वह यह नहीं सोचता कि शरीर ही सभी प्रकार से शक्तिमान है अथवा कोई अन्य शक्ति शरीर के अन्दर से शरीर को संचालित करती है। यह तो विवेकवान पुरुष ही कुछ गहरा उतरना चाहता है और वह खोज करता है कि यह सुगन्ध जाजम में नहीं है, कहीं न कहीं इत्र का फूहा पड़ा हुआ है। तब वह उस फूहे की खोज करता है और जान लेता है कि सुगन्ध का केन्द्र कहां रहा हुआ है? वह जड़ और चेतन तत्त्वों को समझता है- उनके भिन्न-भिन्न स्वभावों को जानता है और तब अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान करता है और अनुभूति लेता है कि जीवन का आधार शरीर नहीं, बल्कि शरीर के भीतर रहने वाली एवं शरीर को चलाने की शक्ति रखने वाली आत्मा है। इस अनुभूति के बाद ही वह बाहर से भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान इस दृष्टि से एक विकासशील व्यक्ति के लिये प्राथमिक आवश्यकता होती है।

**कस्तूरी-मृग की चेतना :**

**अन्तरात्मा की खोज :**

किसी चट्टान के ऊपर कस्तूरी की सुगन्ध को महसूस करके कोई व्यक्ति अपने भद्रिक स्वभाव की वजह से यह चिन्तन करता है कि कस्तूरी की सुगन्ध इस चट्टान में से आ रही है। यह कस्तूरी का पत्थर है। लेकिन ज्ञानीजन इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं होते हैं। उनका कथन तो यही रहता है कि यह पत्थर की सुगन्ध नहीं है और न ही पत्थर में कस्तूरी की सुगन्ध है। अवश्य ही इस पत्थर के साथ कस्तूरी का पट लग गया है, जिससे सुगन्ध बाहर फूट रही है। हकीकत में यह सुगन्ध पत्थर की देन नहीं है। यह देन तो कस्तूरी मृग की नाभि की है। वह कभी इस चट्टान पर बैठा होगा और उसकी नाभि से चट्टान का सम्पर्क हुआ होगा, जिसके परिणाम स्वरूप चट्टान से भी कस्तूरी की सुगन्ध आने लग गई है।

इसे कस्तूरी मृग की चेतना कह सकते हैं। यह विस्मृत मन की चेतना होती है। कस्तूरी मृग की नाभि में होती है और वहीं से उसकी सुगन्ध मृग के नथुनों में प्रवेश करती है, लेकिन मृग की अन्तर्चेतना विस्मृत बनी हुई होती है अतः नथुन नाभि की स्थिति को नहीं जान पाते हैं। कस्तूरी उसके पास होती है, मगर वह कस्तूरी के लिये चारों ओर भटक-भटक कर अपने प्राण दे देता है। वह अपनी सारी जिन्दगी को खपा देता है, लेकिन अपने ही शरीर के भीतर रहे हुए कस्तूरी के तत्त्व को जान नहीं पाता है। क्या ऐसी कस्तूरी मृग की विस्मृत चेतना आज के अधिकांश मानवों में नहीं बस रही है जो मानव जीवन के कीर्तिमानों को देखता है- महान् पुरुषों के दिव्य जीवन से प्रभावित होता है किन्तु अपने ही भीतर रही हुई अन्तरात्मा को नहीं पहिचान पाता है ?

एक दृष्टि से विचार करें तो वैसा ही प्रसंग बहिरात्मा के बारे में भी उपस्थित होता है। वह आत्मा जो इस शरीर में रहकर कस्तूरी मृग की तरह बाहर ही बाहर भटकती है, किन्तु स्वयं ही स्वयं के स्वरूप को नहीं पहचान पाती है। प्रत्येक आत्मा सुख और शान्ति चाहती है। सच्चा सुख और शान्ति तभी मिले जब नाभि की कस्तूरी का पता लग जाय। जब तक आत्मा को इतना भी पता नहीं होता है तो वह अपने सुख और अपनी शान्ति की खोज बाहर के संसार में याने कि जड़ तत्त्वों में करती है और उन्हीं तत्त्वों को प्राप्त करने के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन को खपा देती है। ऐसी आत्मा बहिरात्मा होती है। इसी बहिरात्मा को जब सन्त समागम से अथवा ज्ञानार्जन से कुछ भी पता लग जाता है कि सुगन्ध मेरी ही नाभि में है तो वह आत्मा फिर सच्ची निष्ठा से अपने स्वरूप की खोज करना चाहती है। तब उसकी बहिर्मुखी दृष्टि भीतर में मुड़ती है। वह भीतर प्रवेश करती है और भीतर ही भीतर खोज करती है। यही अन्तरात्मा की खोज होती है। यह खोज जितनी गहरी और जितनी श्रद्धासम्पन्न बनती है, उतना ही बहिरात्मा का स्वरूप अन्तरात्मा के रूप में ढलता है।

## इसी शरीर में रहते हुए आत्मा के तीन रूप बन सकते हैं:

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा-ये तीनों आत्मा के स्वरूप मानव जीवन के इसी शरीर में प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य के कार्यकलापों की जहां कहीं भी आप व्यवस्थित रूपरेखा देखते हैं-उसे अन्तरात्मा की सुगन्ध ही मानिये। यह दूसरी बात है कि वह स्वयं अन्तरात्मा को नहीं पहिचानता। जैसे एक न्यायाधीश है। वह नास्तिक है। आस्तिक नहीं है। वह भौतिकवादी है, आध्यात्मवादी नहीं है, लेकिन जब वह अपने स्थान पर बैठकर किसी विवाद का निर्णय करता है तो दूध का दूध और पानी का पानी की तरह शुद्ध न्याय कर देता है। साधारण लोग अथवा जिनकी दृष्टि अन्तरात्मा तक नहीं गई है, वे पुरुष इस भौतिक पिण्ड में ही इस व्यवस्थित न्याय की निर्णय शक्ति को देखने की कोशिश करते हैं। स्वयं न्यायाधीश का भी ऐसा दृष्टिकोण हो सकता है और यह भी हो सकता है कि उसको भी अपनी अन्तरात्मा की पहिचान नहीं हो।

किन्तु ऐसा दृष्टिकोण बहिरात्माओं का ही हुआ करता है, क्योंकि उनका दृष्टिकोण गहरा नहीं होता है। अन्तरात्मा की विद्यमानता अन्तरात्मा ही जान सकती है और वही समझ सकती है कि न्यायाधीश की न्यायपूर्ण निर्णायक बुद्धि का जो प्रसंग है, वह बुद्धि उस की अपनी ही सुगन्ध है। लेकिन बहिरात्माएँ इस सुगन्ध को भौतिक पिंड-शरीर की सुगन्ध मान लेती है। यह वैसा ही मानना है जैसा कि पत्थर में सुगन्ध का मानना। कस्तूरी मृग स्वयं भी उस पत्थर में ही सुगन्ध की कल्पना करता है और अपनी नाभि की स्थिति को नहीं पहिचानता है। उसी प्रकार भले ही न्यायाधीश ऊपर से कहता हो कि मैं आत्मवादी नहीं हूँ-आध्यात्मिक जीवन पर विश्वास नहीं करता हूँ, लेकिन उसका निर्णय ही यह बतला रहा है कि यह बुद्धि और शक्ति उसकी अन्तर्चेतना की है-भौतिक पिंड की हो ही नहीं सकती। यह भौतिक पिंड तो करीब-करीब सबके समान ही होता है, फिर सब में वैसी निर्णय शक्ति तो नहीं होती। ऐसी क्षमता अवश्य ही किसी विशिष्ट शक्ति की ही हो सकती है।

यहीं पर ज्ञानीजन कहते हैं कि वह न्यायाधीश कस्तूरी मृग की तरह अपने आपकी सुगन्ध के स्रोत को पहिचान नहीं पा रहा है, इसीलिये कहता है कि मैं आध्यात्मवादी नहीं हूँ। जब कभी न्यायाधीश की आत्म-प्रतीति होगी तो वह समझ जायगा कि निर्णय की न्यायभरी यह शक्ति उसकी अपनी अन्तरात्मा की ही शक्ति है। यह भौतिक पिंड तो जाजम के पट के तुल्य है कि भीतरी अन्तरात्मा की सुगन्ध इसके माध्यम से बाहर प्रकट हो रही है। अन्तरात्मा सुगन्ध फैक रही है ओर ऊपर के स्तर पर वह सुगन्ध महक रही है। सुगन्ध का ज्ञान तो होता है, किन्तु उसके स्रोत का ज्ञान नहीं हो रहा है और जब स्रोत का ज्ञान होगा तभी अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान हो सकेगी।

अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान होगी, तब ही आत्मा के परम स्वरूप की भी पहिचान हो सकेगी। परम स्वरूप को पहिचान कर ही अन्तरात्मा उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिये लालायित होती है। वह जब तदनु रूप साधना करती है तो उसके सफल बनने पर वह परमात्म-स्वरूप का भी वरण कर लेती है। इस तरह इसी शरीर में आत्मा के तीनों रूप प्रकट होते हैं। एक दृष्टि से इन्हें आत्मा के विभिन्न रूप न कहें तो आत्मा की विकास श्रेणियां कह सकते हैं। बहिरात्मा इसी शरीरस्थ आत्मा की विकारपूर्ण अवस्था होती है। विकारों के कारण उसमें निज स्वरूप की संज्ञाहीनता सी होती है। जब बहिरात्मा इस संज्ञा को पकड़ती है तो अन्तरात्मा बनती है और अन्तरात्मा ही अपने विकास के सर्वोच्च स्तर पर पहुंच कर स्वयं ही परमात्मा बन जाती है। ये आत्म-स्वरूप की तीनों श्रेणियां आत्मा के इसी मानव शरीर में रहते हुए प्रकट होती हैं तथा भाव धाराओं की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता के साथ यही आत्मा बहिर और अन्तस्वरूपों के बीच में डोलती भी रहती है। जब अन्तर्चेतना अपने धरातल पर स्थायित्व ग्रहण कर लेती है तो फिर अन्तरात्मा ऊपर की ओर ही गमन करती है।

### बहिरात्मा और परमात्मा के बीच:

#### अन्तरात्मा का स्वरूप:

जिन आत्माओं ने अन्तरात्मा के स्वरूप को नहीं पहिचाना है, फिर भी भौतिक विज्ञान की खोज में एक ऐसा कांटा बनाया जा चुका है जिसकी सहायता है इस भौतिक पिंड का सही स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक व्यापारी अपने हाथ में कांटा लेकर के अनाज तोलता है और देखता है कि बीच के अन्दर कांटा ठीक है तो वह तोल को सही समझता है। पलड़े चाहे ऊंचे-नीचे हों मगर यदि बीच का कांटा सही स्थिति में है तो वह तोल सही समझा जाता है। लेकिन पलड़े बराबर हों और बीच का कांटा एक तरफ झुका



हुआ हो तो उस तोल को कैसा मानेंगे? उससे सहज ही में ज्ञान हो जाता है कि माल पूरा नहीं तुला है। इस कांटे का निर्माण करने की कला किसकी मानते हैं? निश्चय ही यह कला अन्तरात्मा की है जिसका मूल स्वभाव समता का स्वभाव होता है। यह कला सिर्फ भौतिक तत्त्व की नहीं हो सकती है।

वैज्ञानिक अपने विज्ञान के क्षेत्र में वायु के नाप का यन्त्र तैयार करते हैं और उस यन्त्र के माध्यम से हवा का दबाव बता देते हैं कि अभी जिस गति से हवा चल रही है, आगामी चौबीस घंटों के बाद उसकी वही गति रहने वाली है अथवा नहीं। अमुक स्थान पर कब और कैसे तूफान आने वाला है—यह उस यन्त्र के माध्यम से गणित करके बतला देता है। वहां पर भी गणित करने वाला और हवा का मापक यन्त्र बनाने वाला जो है, वह सिर्फ भौतिक पिंड ही नहीं है। यद्यपि वह जड़ तत्त्व का निर्माण कर सकता है, लेकिन यह निर्माण भी तभी हो सकता है जब स्वयं भीतर के विज्ञान को मस्तिष्क में लाने वाली वह चैतन्य आत्मा अपना विज्ञान लगाती है। अपनी तटस्थ वृत्ति का परिचय वह आत्मा जैसे कांटे या यन्त्र के रूप में देती है।

दूसरे शब्दों में कहूं तो बहिरात्मा और परमात्मा के बीच का स्वरूप अन्तरात्मा का होता है। जब अपनी आन्तरिकता में यह आत्मा स्थित और स्थिर होती है, तब ही बहिरात्मा के स्वरूप को सही तरीके से बाह्य रूप में समझ सकती है। फिर तुलनात्मक दृष्टि से ही अपने स्वरूप की पहिचान कर सकती है तो परमात्म स्वरूप का विश्लेषण भी कर सकती है। अन्तरात्मा के रूप में यह बीच का कांटा है जो इस जीवन की ज्ञान स्थिति की तरफ दृष्टिपात करता है और जीवन के वास्तविक स्वरूप की दिशा का प्रकटीकरण भी करता है। अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान सत्संग के प्रसंग से, महात्माओं के सम्पर्क से अथवा वीतराग देवों के आगम शास्त्रों में अंकित अमोघ वचनों से एक भव्य प्राणी कर सकता है। जिन भव्यों ने वीतराग देव की उपासना की और तन्मयता के साथ अनन्य भाव से उनकी वाणी को हृदयंगम की, उन आत्माओं ने वास्तविक आनन्द का आस्वादन किया। उस आस्वादन के आल्हाद और प्रमोद को वे ही आत्माएं जानती हैं। ऐसे प्रसंगों के बारे में आप अन्तगढ़ सूत्र में सुन चुके हैं।

क्या यह कमी तो आप लोगों में नहीं है कि शास्त्रों के प्रसंगों को सुन लें और सुन करके उसके भावों का अनुसंधान नहीं करें? शायद यह कमी हो तो समझ लें कि बिना अनुसंधान के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है। जिन आत्माओं ने वीतरागवाणी के आधार पर अपनी अन्तरात्मा के स्वरूप को समझा तो उन्होंने अपनी आन्तरिकता की पूर्ण रूप से अर्पणा कर दी और उस अर्पणा से वे स्वयं भी वीतराग बन गईं। जो सच्ची भी वीतराग बन गईं। जो सच्ची साधना के लिये अपने समग्र जीवन का समर्पण कर देती हैं, वही अन्तरात्मा की श्रेणी में आती हैं। साधना के प्रति समर्पण समस्त उपाधियों से छुटकारा दिलाता है और आराधना में तटस्थ वृत्ति का निर्माण करता है। इसलिये जो साधना कर रहे हैं, उन सन्तों के समीप बैठकर गृहस्थ अवस्था में रहने वाले भाई-बहिन अपने वर्तमान स्वरूप की समीक्षा कर सकते हैं। ऐसी समीक्षा से वे साधक के स्वरूप के प्रति भी श्रद्धावान बनते हैं तो स्वयं भी अन्तरात्मा के स्वरूप में स्थित और स्थिर होने की चेष्टा करते हैं। भले ही उनका स्वरूप वर्तमान समय में गृहस्थी की पोषाक में है—नर और नारी की जाति में है, वे अंतर्मुखी बन सकते हैं। भौतिक तत्त्वों का विज्ञान अथवा कलाओं का ज्ञान बाहर की विद्वता की दृष्टि से ज्यादा न भी हो, लेकिन अन्तरात्मा का स्वरूप जिसके अन्तःकरण में प्रतिभासित हो रहा हो, तो उस पुरुष का जीवन कुछ विलक्षण तरीके का ही दृष्टिगत होता है।

महारानी देवकी का विचार ढ़ण्ड :

अन्तरात्मा का अंतर्ढ़ण्ड था:

महारानी देवकी वसुदेव महाराज की धर्मपत्नी तथा त्रिखंडाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज की मातुश्री थी। इसका वर्णन अभी आपके सामने मुनि जी ने आगमवाणी से रखा। इस वर्णन में महारानी की व्यग्रता किस में थी और किस विषय को लेकर वे चिन्तित हुई श्रोता लोग यह कह सकते हैं कि प्रसंग उनके पुत्रों का था। छः पुत्र एक सरीखे रूप और लावण्य वाले, एक सरीखी वय के और दीखने में मनोहर व कमनीय—ऐसे पुत्र किस भाग्यशालिनी जननी ने जाये हैं—यह विचार देवकी रानी के मन में आया और वह भी इसलिये कि उनकी अविवाहित अवस्था में भविष्यवाणी की थी कि ऐसे पुण्यशाली पुत्र उसके होंगे। यह भविष्यवाणी भी किसी सामान्य व्यक्ति ने नहीं की थी बल्कि एक आत्म-साधक विशिष्ट पुरुष ने की थी। इसलिये महारानी देवकी की पुण्यशाली पुत्रों की माता बनने की धारणा बनी हुई थी। जब वे छः युवक सन्त दो दो के विभाग में भिक्षा हेतु वहां आये तो महारानी के मस्तिष्क में प्रश्न पैदा होने का प्रसंग आया। उसने यह समझा कि वे ही दोनों युवक सन्त बार-बार मोदकों की भिक्षा लेने आ रहे हैं। तीसरी बार

जब तीसरा सिंघाड़ा आया तो महारानी ने पूछ ही लिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि वे तो पहली बार ही भिक्षा हेतु आये हैं। लेकिन वे कुल छः भाई हैं तथा दो-दो के सिंघाड़े में बंटे हुए हैं।

इस स्पष्टीकरण के बाद महारानी के मन में विचारों का ढ्ढ चल पड़ा। उसको ज्ञात हुआ कि ये छः दिव्य पुरुष भाई हैं तो इनकी जननी में नहीं हूँ, कोई अन्य है-यह कैसे हुआ? उस भविष्यवाणी का क्या हुआ? मैं अपने को सौभाग्यशालिनी समझती थी, फिर वह सौभाग्य कहां रह गया? फिर भी न जाने क्यों उसका मन बार-बार उन छः दिव्य मुनियों पर जा रहा था और उसको ऐसा अनुभव हो रहा था कि काश, वे उसके ही पुत्र होते। अपने विचार ढ्ढ का समाधान पाने के लिये ही वह भगवान् अरिष्टनेमि के पास पहुंची।

इस विषय में एक संशोधन लीजिये। इन छः दिव्य पुरुषों का प्रसंग यद्यपि इस प्रकरण में सामने आ रहा है, लेकिन देवकी महारानी के मस्तिष्क में जो जिज्ञासा पैदा हुई, उसमें इन छः पुरुषों के उसकी कुक्षि से जन्म न लेने की चिन्ता गौण थी। उसकी जिज्ञासा की मुख्य बात यह थी कि अतिमुक्त-कुमार जैसे साधक सन्त की भविष्यवाणी सत्य क्यों नहीं हुई? क्या वे अपनी वाणी से विचलित हो गये? उनके मुंह की कही हुई बात गलत कैसे हो गई? कहा है-

**जो भाखे वर कामिनी, जो भाखे अणगार।**

**जो भाखे बालक कथा, संशय नहीं लिगार।**

इन तीनों- श्रेष्ठ नारी, सन्त-महात्मा और बालक की बात अन्तरात्मा से सम्बन्ध रखती है। बालक का हृदय निष्पाप होता है और सन्त महात्मा अपने पापों को धो डालते हैं। दोनों के निश्चल हृदय से जो बात निकल जाती है, वह सत्य होती है, वैसे ही शीलवती नारी की बात को भी महत्त्व दिया गया है। यह अन्तरात्मा की बात इसलिये है कि तीनों पापों से दूर बहिरात्मा के रूप नहीं होते हैं या नहीं रहते हैं। तो महारानी के मन में सबसे बढ़कर अणगार अतिमुक्तकुमार के वचनों का मूल्यांकन हो रहा था।

देवकी महारानी को यह ज्ञान था कि मुनि जीवन पवित्र होना ही चाहिये और पवित्रात्मा की वाणी कभी स्खलित नहीं होती है क्योंकि वह किसी स्वार्थ से लिप्त नहीं होती। सन्त जीवन की पवित्रता संसार समुद्र में पतवार के तुल्य होती है। संत जीवन संसार का मार्ग दर्शक जीवन है। सन्त जीवन में विडम्बना पैदा हो-उसकी भर्त्सना की जाय या वह नीचे उतर जाय-यह भव्य प्राणियों के लिये खटकने वाली बात होती है। संसार का यह तरण-तारण जीवन गृहस्थाश्रम के स्तर पर उतर जावे तो समझना चाहिये कि पवित्र श्रमण संस्कृति का बहुत बड़ा हास हो रहा है। क्या इस प्रकार का चिन्तन अन्तरात्मा के रूप में स्थिर होने का नहीं बनता है? क्या देवकी महारानी से भी बढ़कर आप अपने अन्तःकरण में नहीं सोच पाते कि सन्त जीवन में यदि लोक सम्बन्धी द्वयों की-धन, मान, कीर्ति आदि की आकांक्षा जग गई तो सांस्कृतिक गरिमा कितनी क्लुषित हो जायगी? देवकी की अन्तरात्मा का अन्तर्द्वन्द्व यही था कि एक महान् सन्त महात्मा की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध क्यों नहीं हुई?

भगवान् अरिष्टनेमि के पास पहुंचकर देवकी ने अपनी शंका का समाधान प्राप्त किया-मुख्य शंका थी कि मुनि जीवन की पवित्रता सही थी और गौण शंका का भी कि वे छः दिव्य पुरुष उसी के पुत्र थे। लेकिन देवकी ने एक मूल तथ्य को पकड़ा-एक सत्य की शोध की। यह उस की अन्तरात्मा की जागृति थी। मुनि जीवन के वचन की स्थिति से उसने मुनि जीवन की पवित्रता आंकी। उसका विचार-ढ्ढ यह था कि जैसे एक बालक के जीवन में सरलता, स्वाभाविकता, निःस्वार्थता और निर्लिप्तता होती है, वैसे ही गुण एक मुनि जीवन में होनी चाहिये, क्योंकि इन्हीं गुणों में सत्य का निवास होता है। एक अन्तरात्मा में सत्य के शोध की ही तड़प होती है और वह सत्य की ही उपासना में रत रहती है। इस देवकी महारानी के चरित्र से सत्य के प्रति उसकी सुदृढ़ता ही व्यक्त होती है।

**अन्तरात्मा की प्रबलता:**

**सत्य की आराधना:**

सत्य की आराधना सहज आराधना नहीं होती है। यह आराधना अन्तरात्मा की प्रबलता से बनती है। अन्तरात्मा के तुल्य वीतराग देव के शासन में गुरु पद को माना गया है। गुरु बहिसंसार को छोड़ चुके होते हैं और परमात्म-स्वरूप की साधना करते हैं तो तराजू के कांटे के समान वे दोनों स्वरूपों के बीच में अन्तरात्मा के तुल्य खड़े होते हैं। गुरु पद के भी एक ओर वीतराग देव का स्वरूप है तो एक ओर धर्म का स्वरूप होता है। गुरु पद की महत्ता इससे और बढ़ जाती है कि वे ही वीतराग देव के सही स्वरूप को दिखाने वाले तथा धर्म के सही स्वरूप को समझाने वाले होते हैं। इसीलिये कहा गया है कि या महिमा गुरुदेव की जो गोविन्द

दियो बताय तथा गुरु बिन ज्ञान कहां ? इस कारण सत्य की आराधना में गुरु का मार्ग-दर्शन बहुत आवश्यक होता है क्योंकि वह अन्तरात्मा का मार्गदर्शन होता है।

कभी-कभी आध्यात्मिक जीवन का प्रतिपादन करने वाले वक्ता सहसा बोल जाते हैं कि यह रत्न क्या है, यह तो मिट्टी है। कथन गलत नहीं है लेकिन कथन वर्तमान पर्याय की दृष्टि से भी गलत नहीं दिखाई देना चाहिये। वह रत्न नष्ट होकर मिट्टी बन सकता है लेकिन वर्तमान में तो वह रत्न है ही। इस रूप में सत्य की आराधना करते हुए वस्तु स्वरूप की वर्तमान पर्याय को नजरान्दाज नहीं कर सकते हैं। और यह नयवाद की गहराई होती है कि एक वस्तु स्वरूप का वर्णन अलग-अलग अपेक्षाओं से किया जाता है ताकि समग्र स्वरूप का ज्ञान हो सके। सत्य के लिये वर्तमान सामने होता है और भूत-भविष्य आगे पीछे।

कभी कोई व्यक्ति यह भी कह देता है कि यह शरीर क्या है-यह तो जड़ है। ये भी आवेश के शब्द हैं जैसे शब्द थे कि यह रत्न क्या है- मिट्टी है। जड़ ता मुर्दा शरीर को कहते हैं और सन्त लोग उपदेश देते हैं तो क्या मुर्दा शरीरों को देते हैं ? यदि शरीर को जड़ की स्थिति की उपमा देनी है तो सच्चाई के नाते यह कहना चाहिये कि भूतकाल की दृष्टि से जड़ तत्त्व पहले निर्जीव था, लेकिन वर्तमान में वह आत्मा के संयोग से शरीर रूप बना तो चैतन्य आत्मा का रूप कहलाने लगा। जब चैतन्य आत्मा इसमें से निकल जायेगी तो फिर यह शरीर जड़ हो जायगा। इस अपेक्षा से कथन किया जाना चाहिये। एकांगी कथन सत्य से दूर हो जाता है। शरीर को जड़ ही मानलें तो फिर आत्म-साधना भी किसको सहायता से की जायगी ? कर्मों का क्षय करने की तपस्या कौन करेगा ? शरीर का इसीलिये धर्म साधन कहा है। वाणी की भी बड़ी महिमा बताई गई है। साधक की वाणी जो निकले वह सत्य की साधिका होना चाहिये।

बहुतेरे लोगों के मुंह से निकल जाता है कि सभी सत्य बोलो अहिंसा पर चलो यह कहते तो हैं जो सिद्धान्त के नाते ठीक है लेकिन वास्तविक सत्य क्या है-सही तथ्य क्या है ? इसका विश्लेषण करने से ही सत्य के सही स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा। इससे उनका यही भाव हो सकता है कि सत्य का व्यवहार पक्ष भी सिद्ध होना चाहिये।

इसका अभिप्राय यह है कि सत्य अन्तरात्मा के साथ जुड़कर ही सत्य बनता है। जो सत्य की आराधना है, वही एक दृष्टि से अन्तरात्मा की आराधना है। जो लोग बहुतेरी बातें बेसिर पैर की करते हैं, वे उनकी अन्तरात्मा के ओझल रहने से करते हैं क्योंकि बहिरात्मा का ज्ञान अधिकांश में अज्ञान रूप होता है। जहां आवेश का प्रसंग आता है तो वहां दुर्नय का प्रसंग आता है और दुर्नयपूर्ण बात अन्तरात्मा की प्रतीति के अभाव में ही चलती है।

विचार, वाणी व व्यवहार:

अन्तरात्मा के साथ सत्य:

भगवान् महावीर का सिद्धान्त अनेकान्तवाद का है-स्याद्वाद की भाषा से बोलने का कथन है। इस स्याद्वाद का विज्ञान ठीक तरह से किये बिना सत्य का सही प्रतिपादन बड़ा कठिन होता है। सत्य टेढ़ी खीर है। सत्य की आराधना वही कर सकता है, जिसकी अन्तरात्मा जागृत हो चुकी हो। एक सत्य का आराधक सदैव अपने विचार, अपनी वाणी और अपने व्यवहार में सत्य का ही अनुशीलन करता है।

सभी तीर्थंकर देवों ने सत्य के सिद्धान्त का जिस सुक्ष्मता से प्रतिपादन किया है, उस पर प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को गंभीर चिन्तन-मनन करने की आवश्यकता है। साधु के लिये भी वह भाषा कैसी बोले-इसका स्पष्ट विधान किया गया है। साधु मुख्य रूप से आठ प्रकार की भाषा टाल कर बोले। कठोरकारी, कर्कशकारी, मर्मकारी आदि भाषा के आठ दोष बताये गये हैं। निश्चयकारी भाषा बोलने का भी निषेध किया गया है। इस कारण एकान्त दृष्टि से शरीर को जड़ नहीं कह सकते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि शरीर भी एक दृष्टि से चैतन्य है- एकान्त रूप से नहीं। प्रश्न करने पर स्वयं महावीर ने बताया कि आत्मा अरूपी भी है तो रूपी भी है। रूपी आत्मा का कथन शरीर की दृष्टि से हुआ है। आठ कर्मों से युक्त जो आत्माएं शरीर धारण करती हैं, वे रूपी आत्माएं होती हैं। शरीर को आत्मा के अस्तित्व में जड़ नहीं कहा। अन्तरात्मा के स्वरूप को खोजने का इसी में संकेत रहा हुआ है।

विचार, वाणी व व्यवहार में सत्य अपनी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से आंका जाता है। यह अंकन करने का विवेक अन्तरात्मा में ही होता है। स्याद्वाद का सिद्धान्त आत्म-जागृति की उच्चतम अवस्था की उपज है। इसलिये जो आत्मा कर्म बन्धन करती है, वही आत्मा कर्मों को तोड़ भी सकती है-बस पहले निज स्वरूप को समझ लें। मनुष्य के शरीर में प्रकट होने वाली तीन तरह की जो

आत्माएं बताई गई हैं- बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा। इनके स्वरूपों को समझने के लिये इस क्रम से चलें कि अन्तरात्मा में स्थिर होकर बहिरात्मा के स्वरूप को समझें तथा उसी अवस्था में परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करें। यह अन्तरात्मा एक दृष्टि से गुरुपद का कार्य करने में समर्थ हो सकती है। शास्त्रकारों ने बड़े रूप में देव, गुरु एवं धर्म का स्वरूप बताया है, लेकिन गुरु पद का कांटा आड़ा टेढ़ा हो जाता है तो उससे देव एवं धर्म के स्वरूप पर भी आंच आती है। इस कारण गुरु पद का विशिष्ट महत्व है तथा उसी दृष्टिकोण से अन्तरात्मा का भी विशिष्ट महत्व है। अन्तरात्मा जब सजग और सतर्क बन जाती है तो सारा जीवन सत्य एवं अहिंसामय हो जाता है।

अन्तरात्मा की ज्योति को अपनी साधना से निखारिये:

पर्युषण पर्व का दूसरा दिन चल रहा है-पाठशाला चल पड़ी हैं तो इसमें प्रशिक्षण भी लें और अन्तरात्मा को सम्पूर्ण जीवन की स्वामिनी बनाने वाली साधना भी करें। एक ही समय में दो काम बने इस लाभ को बुद्धिमान व्यक्ति कभी नहीं छोड़ते हैं। व्याख्यान श्रवण हो ही रहा है तो इसके साथ दो सामायिकें भी हो सकती हैं। स्वाध्याय के कार्यक्रम में भी सम्मिलित हुआ जा सकता है। भगवान ने कहा है-

**सज्ज्ञाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**

**सज्ज्ञाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई**

अर्थात् स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता है। जितनी बहुविध साधना आप करेंगे, उतनी ही अन्तरात्मा की ज्योति निखरती हुई चली जायेगी। उसका प्रकाश घना बनता जायेगा।

तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि संशयशील आत्मा पतित हो जाती है, अतः आपके मन में किसी भी प्रकार का संशय उत्पन्न हो तो उसका समाधान लेलें और फिर चिन्तन तथा साधना में अपने को एकाग्र बनालें ताकि अन्तरात्मा का स्वरूप स्वच्छ निकलने लगे, उज्वल बने और परमात्म-स्वरूप की दिशा में गमन करें। शंकाओं का समाधान सत्य के निकट ले जाता है इसलिये मन को कभी भी शंकाग्रस्त न रखें। अन्तरात्मा को सदा सत्य से संलग्न बनाये हुए चलें ताकि उसके स्वरूप की पहिचान ही नहीं- उसके स्वरूप का साक्षात्कार भी हो जावे।

गंगाशहर-भीनासर

13-8-77

**सर्वश्रेष्ठ बल : आत्मबल**

*बलों में सर्वश्रेष्ठ बल आत्मबल होता है। आत्मबल के सम्मुख सभी बल फीके हैं। आत्मबली को विकृतियों के प्रति संघर्ष करने की अनन्त शक्ति पैदा हो जाती है। सैंकड़ों बल एक तरफ और आत्मबल दूसरी तरफ हो-आत्मबली की ही विजय होती है। आत्मबली का कोई मुकाबला नहीं कर सकता।*

*सुख-दुख का कर्ता आत्मतत्त्व ही होता है, सुख को अपनाने और दुख को छोड़ने की शक्ति साधक में आजाती है। भौतिक सुख आत्मिक सुख के सम्मुख टिक नहीं सकता। इसीलिए जीवन में आत्मतत्त्व को बढ़ाना आवश्यक है। आत्मतत्त्व के सम्मुख चमत्कारों का प्रभाव भी कोई महत्व नहीं रखता। जो अपनी आत्म शक्ति को पहचान कर घबड़ाता नहीं है। वही महाबली है।*

*सुदर्शन सेठ ने मांगलिक सुना और आज के श्रावकगण श्री मांगलिक सुनते हैं। मगर दोनों में भावना का भारी अन्तर है। एक भावना अन्तर से उठती है और दूसरी भावना ऊपर से उठती है।*

**पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे.....**

भव्य जनों के अन्तःकरण में जब विवेकपूर्वक आत्म-विकास का दृढ़ संकल्प जागृत होता है।

तो वे अपने उस आत्मा-बल पर अपने जीवन को द्रुतगति से आगे बढ़ा लेते हैं। आत्म-बल को आधार बना कर गति करने वाला व्यक्ति सामान्य जीवन से विशिष्ट जीवन में प्रवेश करता है। वह धीरे-धीरे विशिष्ट जीवन से भी ऊपर उठकर आत्म-साक्षात्कार से परमात्म स्वरूप के वरण तक पहुंच जाता है। आत्मा और परमात्मा के बीच की खाई को भी वह पाट लेता है। ऐसा शुभ परिवर्तन आत्म तत्त्व में अटूट विश्वास रखने से तथा तदनुसूत गति करने से संभव है।

वीतराग वाणी के आधार पर ऐसे पुरुषों के मन मस्तिष्क में आत्म-ज्ञान की जिस दिव्यता का प्रादुर्भाव होता है, वही उसके मार्ग दर्शक का काम करता है। आत्म-ज्ञान के प्रकाश में साधक देख लेता है कि इस मानव जीवन के धरातल पर खड़ा होकर ही मानव ऊंचा से ऊंचा आत्म विकास सम्पादित कर सकता है। वह मानव जीवन की महता को समझ लेता है, आत्मा के मूल स्वरूप को पहिचान जाता है एवं आत्म-बल की विशिष्टता को उपलब्ध कर लेता है। इस आत्म-बल को जिसने पा लिया, समझिये कि उसमें सम्पूर्ण विकृतियों से सफल संघर्ष करने की सम्पूर्ण क्षमता उत्पन्न हो गई है। सैकड़ों तरह के बल एक तरफ हों और एक तरफ केवल आत्म-बल ही हो पर उन सबको परास्त कर देने के लिये पर्याप्त होता है। आत्म-बली वास्तविकता की दृष्टि से महाबली होता है।

कल्पवृक्ष से भी उत्तमः

मनोरथ पूरक मानव जीवनः

मानव ही अपने जीवन में इस कल्पना को साकार रूप दे सकता है कि वह जो भी अपना इच्छित लक्ष्य निर्धारित करेगा, उसको पा ही लेगा। इस जीवन में यदि प्रमाद का अवकाश नहीं हुआ, समय रहते जीवन की क्षमता का विकास कर लिया तथा सामर्थ्य के सदभाव में उत्तम कार्य को प्रारंभ कर दिया तो आत्म-बल का प्रवाह ऐसी दिशा में मुड़ जायगा जिसके द्वारा भव्य जीवन का निर्माण किया जा सकता है। यही आत्म-बल सर्वोच्च विकास को प्राप्त करके श्रेष्ठ सत्य को एवं अखूट आनन्द की प्राप्त कर लेता है।

इस मानवीय जीवन को एक दृष्टि से ऐसी भूमि की उपमा दी जा सकती है, जिसकी मिट्टी में स्निग्धता हो, उत्पादकता हो तथा जल बिन्दुओं को अपने अन्दर समा लेने की क्षमता हो। ऐसी ही भूमि पर खेती करके किसान इच्छित फसल पैदा कर लेता है। ऐसी भूमि पर वह चाहता है तो गेहूं की फसल, गन्ने की फसल या कोई भी अच्छी से अच्छी फसल ले सकता है। उसकी अपनी इच्छा पर फल प्राप्ति निर्भर रहती है। वह चाहे तो उसी भूमि से गन्ने की फसल लेकर मीठा रस प्राप्त कर सकता है और आल्हादित हो सकता है और वह चाहे तो उसी भूमि पर अफीम की फसल उगा कर अपने मुंह को कड़ुआ बना सकता है तथा संसार में विषवृद्धि कर सकता है। उपजाऊ भूमि की स्निग्ध मिट्टी में कृषक इच्छानुसार फसल पैदा कर सकता है, जो कल्पवृक्ष से भी बढ़कर होती है। इसका कारण है कि कृषक अपने पुरुषार्थ से फसल लेता है जबकि एक कल्पवृक्ष से बिना किसी पुरुषार्थ के फल मिलता है। पुरुषार्थ से प्राप्त किया हुआ फल श्रेष्ठतर होता है।

इस रूपक को इस मानव जीवन पर लागू करें। मानव जीवन की पृष्ठभूमि भी इतनी फलदाई होती है कि इस पर पुरुषार्थ करने वाला चाहिये। इस मानव जीवन की भूमि पर यदि आध्यात्मिक जल का सिंचन मिल जाय वीतरागवाणी के प्रति श्रद्धा का बीज बो दिया जाय तथा आत्मा का विवेक युक्त दृढ़ संकल्पमय पुरुषार्थ नियोजित हो जाय तो कल्पनातीत अवस्था की प्राप्ति के रूप में अनुपम फल प्राप्त हो सकता है। कल्पवृक्ष या भूमि तो सीमित पदार्थों का ही उत्पादन करती है, लेकिन मानव जीवन के धरातल पर यह आत्मा असीम, अद्वितीय और अलौकिक प्रकाश, आनन्द एवं शान्ति प्राप्त कर सकती है। इसलिये यह मानव जीवन कल्पवृक्ष से भी अधिक उत्तम है जिसमें सर्वोच्च मनोरथ को भी पूर्ण कर सकते हैं।

ऐसी सर्वश्रेष्ठ क्षमता इस मानव जीवन में रही हुई है, जो अन्य किसी जीवन में प्राप्त नहीं होती है। ऐसे अमूल्य जीवन का कहना ही क्या ? आवश्यकता इसी बात की है कि इस जीवन का पूर्ण सदुपयोग किया जाय। यह ध्यान रखना है कि उस जीवन का मोड़ गलत दिशा में न चला जाय, वरना अफीम की खेती हो जायगी तो स्वयं को भी विष पीना पड़ेगा और दुनिया में भी विष बढ़ेगा। सदुपयोग का परिणाम अनन्त सुख के रूप में प्रकट होगा तो दुरुपयोग से इतना दुःख बढ़ जायगा कि उससे कई जन्म-जन्मान्तरों तक छुटकारा नहीं मिल सकेगा। इस मानव जीवन को कल्पवृक्ष से भी उत्तम और मनोरथपूरक भी बनाया जा सकता है तो विषवृक्ष के समान कष्ट दायक एवं दुर्भाग्यपूर्ण भी बना सकते हैं। सुख और दुःख ये दोनों इसी आत्मा के अधीन हैं।

सुख और दुःख का कर्ता

यह आत्म-तत्त्व ही है:

जीवन में सुख या दुःख देने वाली कोई अलग शक्ति नहीं होती है। यह आत्म तत्त्व स्वयं ही अपना भाग्य विधाता और अपने सुख-दुःख का कर्ता होता है। महावीर प्रभु ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा की है कि-

**अप्या कता विकता य,**

**सुहाण य दुहाण य ।**

यह आत्म तत्त्व ही अपने सुख या दुःख का कर्ता या विकर्ता है। सुख को यही पैदा करता है तो यही अपने सुख को नष्ट भी करता है। उसी प्रकार यही आत्म तत्त्व अपने दुःख को पैदा करता है तो अपने दुःख को दूर भी कर सकता है। यहां इस आप्त वचन में कार्यों को भी गौण किया गया है। वस्तुतः कर्म गौण ही है क्योंकि इन कार्यों को करने वाली भी आत्मा ही होती है। इस कर्म बन्धन के द्वारा ही वह निज स्वरूप एवं परमात्मा स्वरूप से दूर जाती है और उसी कर्म बन्धन को तोड़ कर वह आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेती है।

कर्म बन्धन का मूल स्रोत होता है मिथ्यात्व तथा मोह। ये दोनों बहुत बड़े पाप हैं। मिथ्यात्व और मोह से संयुक्त बनने के कारण ही आठों कर्मों की संलग्नता बनी रहती है। मिथ्यात्व मोह इन आठों कर्मों का अगुआ होता है। यही कर्मों की मूल जड़ है। यही कर्म विपाक की स्थिति का जनक है, जिसकी उपस्थिति में आत्मा अपने स्वरूप को विस्मृत कर जाती है और दिखाई देने वाले भौतिक तत्त्वों को ही सब कुछ मानकर चलती है। मिथ्यात्व मोह कर्म का जिस वक्त जोरदार विपाक या उदय होता है, उस वक्त इस आत्मा की दशा बेभान अवस्था में पहुंच जाती है। विवेक का दीपक बुझ जाता है और जब विवेक का ही प्रकाश नहीं रहता है तो कितनी ही सम्पत्ति प्राप्त हो- अधिकारों का कितना ही वैभव मिल जाय, लेकिन ये सभी प्राप्तियां उस आत्मा को ज्यादा से ज्यादा अधर में धकलने वाली बन जाती है। मिथ्यात्व दशा अन्धकार में ही बढ़ती है और ज्ञान तथा विवेक का प्रकाश किनारा कर जाता है।

जिस व्यक्ति का ध्यान सिर्फ भौतिक तत्त्वों की तरफ रहता है, वह उन्हीं को कैसे भी प्रयत्नों के द्वारा अधिक से अधिक मात्रा में एकत्रित करता है तथा आत्मा की अंधकारपूर्ण अवस्था के कारण उनका भरपूर दुरुपयोग करने लग जाता है। यह संकल्प शक्ति दोनों तरफ काम करती है। यदि उसको विवेक के साथ जगाते हैं तो वह जीवन में चारों ओर प्रकाश भर देती है और इसी संकल्प शक्ति के साथ अगर अविवेक जुड़ जाता है तो जीवन के सभी क्षेत्रों में घटाटोप अंधकार छा जाता है और वह दुष्कृत्यों में प्रवृत्त हो जाती है।

आपने अन्तगढ़ सूत्र के अन्दर उन छः गठीले पुरुषों का वर्णन सुना। उनका भी मानव जीवन ही था और उनको उस जीवन में तरुणाई, धन की प्रचुरता तथा अधिकारों की बहुलता भी प्राप्त थी। लेकिन इस संयोग का उन्होंने क्या उपयोग किया? उन शक्तियों को लेकर वे भौतिक सुखों में लिस बन गये। उनके इस शुद्ध अविवेक के कारण उनके जीवन में दुष्कृत्यों का अंधकार छा गया। वे भी आत्म तत्त्व के धारक थे और अपने जीवन का सदुपयोग करते तो अपने लिये सुखों का संसार बना लेते लेकिन वे उस अमूल्य जीवन का दुरुपयोग करने पर तुल गये।

गठीले पुरुषों की दुष्टता :

अर्जुन माली का बल :

नीतिकारों का कथन है कि-

**यौवनं धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकता ।**

**एकैकमप्यनर्थाय कि यत्र चतुष्टयम् ॥**

यह सही है कि जवानी अपने आप में दीवानी होती है। जब तक बच्चे का जीवन है तब तक उसकी पवित्रता की झलक हर किसी को आकर्षित करती है। बच्चे का जीवन इसी कारण सबको प्रिय लगता है कि उसमें विविध विकारों का उदय नहीं होता है। लेकिन तरुणाई के आते ही विकारों का प्रवेश शुरू हो जाता है और मनुष्य मदमस्त सा बन जाता है। उस वक्त मोह कर्म की प्रचुरता का प्रसंग होता है। इस मोह कर्म की उदय की स्थिति के साथ यदि मिथ्यात्व भी जुड़ जाता है तो विवेक शक्ति दब जाती है।

विवेक रहता है तो जीवन का दुरुपयोग नहीं होता है, वरना पहली बात जवानी, फिर अविवेक और उसके साथ धन सम्पत्ति तथा प्रभुत्व का योग मिल जाता है तो उस मदमस्त जीवन का कहना ही क्या ? अनर्थ के लिये एक बात ही काफी होती है और फिर चारों बातें मिल जायं तो अनर्थपूर्ण दुष्टता में तब किसी बात की कमी नहीं रह जाती है।

ऐसी ही दुष्टता उन छः गठीले पुरुषों की चारों ओर फैली हुई थी। चारों अनर्थ के कारण उनके जीवन में मौजूद थे। वे एक दिन घूमते-घूमते उद्यान की तरफ निकल गये जहां अर्जुनमाली की पत्नी फूल चुन रही थी। वह सुन्दर थी। उसको देखकर इन दुष्ट पुरुषों ने उसके साथ बलात्कार करने का निश्चय कर लिया। इस दुर्बुद्धि के साथ वे वहां के यक्ष मन्दिर में छिप कर बैठ गये। पूजा के फूल लेकर अर्जुन माली और उसकी पत्नी हमेशा की तरह यक्ष मन्दिर में आये। तब अनजाने में वे सभी अर्जुन माली पर टूट पड़े तथा उसको रस्सियों से बांध दिया और तब उसकी पत्नी के साथ उन्होंने अपनी पाप वासना पूरी की। उस वक्त अर्जुनमाली अकेला था और छः पुरुषों से जीतने की उसकी ताकत नहीं थी। वह बन्धन में बन्धा हुआ छटपटा रहा था और सोच रहा था कि मैं किसकी मदद लूं ? तब उसका इतना ज्ञान नहीं था कि वह अपने आत्म बल को प्रदीप्त बनाता। उसको यही ध्यान आया कि जिस यक्ष की मैं ठेठ से पूजा करता आया हूं, उसी यक्ष से सहायता देने की प्रार्थना करूं। वह अत्यन्त क्रुद्ध था और उसने यक्ष की प्रतिमा के सामने जोरों से मांग की कि या तो वह उसको अत्याचार का बदला चुकाने की ताकत दे वरना वह उस यक्ष की प्रतिमा को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक देगा। यक्ष में वैक्रिय शक्ति थी- उसका मुद्गरपाणि नाम था। उसका उपयोग लगा और वह अर्जुनमाली के शरीर में प्रवेश कर गया।

तब अर्जुनमाली यक्षाधीन होकर बड़ा बली हो गया। उसने बहुत भारी लोहे का मुद्गर उठा लिया। भारी हुंकार भर कर वह मुद्गर को धुमाता हुआ उस तरफ दौड़ा जिस तरफ वे छः गठीले पुरुष उसकी पत्नी के साथ दुरा-चार में व्यस्त थे। अर्जुन माली के मन में वही आक्रोश घूम रहा था कि किस प्रकार उन दुष्टों से वह उनके अत्याचार का बदला ले ? उसके मन में यह विचार भी भर गया कि जिसको मैं अपनी प्राणवल्लभा समझता था, वह भी उनके अत्याचार में योग देने वाली बन गई। वह उनके दुराचार से पहले मर क्यों नहीं गई ? अगर स्त्री में साहस रहे तो पुरुष अत्याचार नहीं कर सकता है। रावण सीता का क्या बिगाड़ सका या महारानी धारिणी की दृढ़ता कैसी सफल रही ? अर्जुन माली का क्रोध इस रूप में उन छः पुरुषों तथा अपनी पत्नी के रूप में एक नारी पर भड़क उठा। वह उन सातों को दंड देने के लिये आतुर बन गया। उसने अपने लोह मुद्गर से उन सातों का वहीं प्राणान्त कर दिया। छः पुरुष और एक नारी-ये हत्याएं उसके दिमाग पर छा गईं।

अर्जुनमाली की दृष्टि यहीं तक सीमित नहीं रही। वह उस अनीति को बढ़ावा देने वाले नगर के शासकों और निवासियों को भी दंड देने लगा। प्रतिदिन छः पुरुषों और एक नारी की हत्या का उसका क्रम बन गया। अनीति के भागीदारों को भी वह छोड़ना नहीं चाहता था। अर्जुनमाली का यह सात हत्याओं का प्रसंग प्रतिदिन चला और इस प्रसंग से कितना कुछ संहार हुआ- यह आपने शास्त्रों की वाणी से श्रवण कर लिया है। मोह कर्म के उदय के साथ मिथ्यात्व दश के संकल्प से जो यह कार्य हुआ-यह आपकी दृष्टि में आ गया कि यह भी अर्जुनमाली का एक बल था, जिसे पशु-बल की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु प्रचंड से प्रचंड पशु या पैशाचिक बल भी आत्म बल के सामने हार खाता है।

**बल तो एक आत्म बल :**

**बाकी सब बल बेकार :**

अब दूसरी ओर दृष्टिपात करिये। उसी नगर में सेठ सुदर्शन भी रहते थे। वे यौवन सन्पन्न, सम्पत्तिशाली और प्रभूता धारी भी थे लेकिन वे पूर्ण रूप से विवेकशील और उनके जागृत विवेक का ही सुपरिणाम था कि श्रेष्ठ जीवन जीने वाले थे और महान् आत्म-बली थे। जीवन शक्तियों के सदुपयोग के कारण उनका दृढ़ संकल्प सुकृत्यों के लिये सदा सन्नद्ध रहता था। वे भौतिकता में नहीं बह रहे थे, उनका जीवन आध्यात्मिकता की भूमिका पर फल फूल रहा था।

तब राजगृही नगरी के बाहर उद्यान में भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। सब नगर- निवासियों को सूचना मिल गई कि सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी परमात्मा पधार चुके हैं, लेकिन अर्जुनमाली के संकट के कारण कोई भी बाहर निकलने की हिम्मत नहीं कर पा रहा था। अर्जुनमाली के उस पैशाचिक बल के सामने साधारण नागरिक जा ही कैसे सकता था ? वही मानव उस बल के सामने जा सकता था जो उससे टक्कर लेने की सामर्थ्य रखता हो। सर्वश्रेष्ठ आत्म बल होता है और एक आत्मबली ही पूर्ण साहस लेकिन पूर्ण शान्ति

के साथ किसी भी दूसरे बल का सामना कर सकता है और उसको हरा सकता है । इसी आत्म बल की प्रबलता के कारण सुदर्शन सेठ ने उद्यान में पहुंच कर भगवान् के दर्शन करने का निश्चय किया । उन्हें अपने आत्म बल पर अमित विश्वास था ।

सेठ सुदर्शन भगवान् के दर्शन की अमित निष्ठा के साथ घर से निकल पड़े । ज्योंही वे नगर के बाहर आये कि दो शक्तियों के बीच संघर्ष का अवसर उपस्थित हो गया । एक तरफ भौतिकता की शक्ति थी तो दूसरी तरफ आध्यात्मिक शक्ति । एक ओर यक्षाधीन अर्जुनमाली का पशु-बल था तो दूसरी ओर सेठ सुदर्शन का सर्वश्रेष्ठ आत्मबल । एक ओर अविवेक था, दूसरी ओर सुदर्शन विवेक का दीपक लेकर चल रहे थे । जो अपनी आन्तरिक शक्तियों को पहिचानते हैं, वे संकट के समय घबराते नहीं हैं और न हाथ तोबा मचाते हैं । आने वाले संकट का वे शान्ति से सामना करते हैं तथा संकट को परास्त करके रहते हैं । सेठ सुदर्शन सच्चे श्रावक थे ।

आप भी श्रावक हैं न ? वैसे संकट की घड़ियां तो दूर रही, लेकिन आप सामायिक लेकर बैठे हों और उस वक्त कदाचित् सर्प आ जाय तो क्या भगदड़ नहीं मच जायगी ? जरा तुलनात्मक दृष्टि से देखिये । वे भी श्रावक थे और आप भी श्रावक हैं । अपने जीवन को तौलने का अवसर है कि धार्मिकता और आध्यात्मिकता वहां कितनी गहरी है और विवेक तथा दृढ संकल्प कितना सुदृढ है ? हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है लेकिन जो संकल्प शक्ति अभी तक अन्तःकरण के विवेक के साथ नहीं जुड़ी है, उसे अन्तःकरण तक पहुंचाना है । कभी कर्तव्य पालन से भागना नहीं है, लेकिन उस पर दृढता के साथ चलना है । ध्यान रखिये कि इसके लिये आत्मबल को जगाना तथा शक्तिशाली बनाना चाहिये । एक आत्मबल के सामने दूसरे सभी बल बेकार हो जाते हैं । आत्म बल की सर्व श्रेष्ठता सुप्रमाणित है ।

आत्मबली मरने से डरता नहीं,  
लेकिन आत्मबली क्या मरता है ?

दूर से मुद्गर घुमाते हुए अर्जुनमाली को आते हुए देखा तो सेठ सुदर्शन ने सागरी संधारा ग्रहण कर लेना उचित समझा-यदि इस संकट से बच गये तो जीवन का आगार है, वरना जीवन पर कोई मोह नहीं है । शांति से समभाव रखते हुए वे एक स्थान पर विधिपूर्वक बैठ गये और ध्यानस्थ होकर पवित्र संकल्पों में रमण करने लगे । अर्जुनमाली के प्रति भी उनके मन में रती मात्र भी द्वेष नहीं आया । उनके मुख पर ऐसी आभा छा गई जैसे उनको मरने का कोई डर ही न हो और वास्तव में आत्मबली मरने से कभी डरता नहीं, हकीकत में क्या वह मरता भी है ? सेठ सुदर्शन भी परम आत्मबली थे और उनके आत्मबल का ऐसा सुप्रभाव पड़ा कि पशु-बली भी आत्मबली बन गया ।

सुदर्शन ध्यान में बैठकर भावना भाने लगे -हे भगवन् मैं आपके दर्शन के लिये निकला हूं और यदि इस उपसर्ग में शरीर से बच गया तो आपके चरणों में पहुंच कर दर्शन करूंगा और कदाचित् इस उपसर्ग में शरीर छूट गया तो मेरी आत्मा आपके शरण में है ही-

*अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि,*

*साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्ते धम्मे सरणं पव्वज्जामि ।*

*मैं अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवलीप्रणीत धर्म की शरण लेता हूं ।*

आप भी यह मांगलिक पाठ रोजना सुनते हैं, लेकिन किस भावना से ? यह मंगल पाठ सेठ सुदर्शन ने भी ग्रहण किया था, आज के श्रावक भी ग्रहण करते हैं, लेकिन ग्रहण करने की भावना में कितना क्या अन्तर होता है- यह आत्म विवेचना का प्रश्न है । सेठ सुदर्शन के सामने कितनी विपत्ति आई-साक्षात् मृत्यु ही चली आई थी, लेकिन सेठ ने यह प्रार्थना नहीं की कि हे भगवन् मैं तो आपका भक्त हूं, आप मेरी जीवन रक्षा के लिये आओ । सच्चा आत्मबली ऐसी कातर प्रार्थना नहीं करता है । वह यही प्रार्थना करता है कि मेरा जीवन आपकी चरण शरण में रहे । सेठ ने भी कोई याचना नहीं की । भक्ति के प्रवाह में भी याचना नहीं करनी चाहिये, न भगवान् को उपालंभ देना चाहिये । इतना समय धर्म करते हुए हो गया और धर्म का कोई फल भी नहीं मिला-यह गलत उपालंभ होता है । सेठ सुदर्शन के दिव्य आत्मबल से प्रेरणा ली जानी चाहिये ।

सेठ सुदर्शन ध्यानस्थ होकर बैठे हैं और उधर हुंकार भरता तथा लोह मुद्गर को घुमाता हुआ अर्जुनमाली उनके निकट पहुंचा । उनको मारने के उद्देश्य से उसने मुद्गर के साथ भरपूर हाथ उठाया, लेकिन यह क्या ? ऊपर उठा हुआ मुद्गर ही रह गया-



हाथ नीचे नहीं झुका । सेठ सुदर्शन के सामने विपत्ति खड़ी थी । वे आंखें बन्द किये पूर्ण आत्मबल के साथ यही सोच रहे थे कि इसका मुद्गर मेरा क्या बिगाड़ सकेगा ? केवल शरीर रूपी कपड़े को फाड़ देगा-उसकी क्या चिन्ता ? सम्यक् दृष्टि श्रावक शरीर को मात्र पोशाक समझ कर आत्मा के भव्य स्वरूप को पहिचानता है । वह सोचता है कि यह पोशाक आज नहीं तो कल फटेगी, लेकिन आत्मा कहीं नहीं जायगी ।

ध्यान से ज्योंही सेठ ने आंखें खोली और दृष्टि प्रसार किया, त्योंही यक्ष अर्जुनमाली के शरीर को छोड़ कर भाग खड़ा हुआ । एक आत्मबली की दृष्टि का अप्रतिम प्रभाव होता है । आध्यात्मिक शक्ति एक विशिष्ट शक्ति होती है । जो धार्मिकता से ओतप्रोत होते हैं, उनका आत्मिक बल अनन्त होता है । उस बल के सामने अन्य कोई बल टिकता नहीं है । जैसे ही यक्ष निकला कि अर्जुनमाली धड़ाम से नीचे गिर पड़ा । मकानों की छतों से देखने वाले नगर निवासी आश्चर्य चकित रह गये थे कि यह क्या हो गया ? शायद यह दृश्य देखकर भी वे यह नहीं सोच पाये हों कि सुदर्शन सेठ जैसा आत्मबल उनके अन्दर भी रहा हुआ है जिसको सुदृढ़ बनाया जावे तो वे भी सुदर्शन सेठ जैसे बन सकते हैं । आज के श्रावक भी यह सोच पाते हैं या नहीं- कौन जाने ?

अर्जुनमाली को आत्म-वत्सलता से सेठ ने उठाया, उसको सांत्वना दी तथा उसके आग्रह से उसको भी भगवान् के पास ले गये । भगवान् की वाणी सुन कर अर्जुनमाली प्रबुद्ध हुआ, दीक्षित बना एवं अपना आत्मोद्धार करके मोक्षगामी हो गया ।

आप भी आत्मबल बढ़ायेंगे ?

उस पर विश्वास करेंगे ?

आज शरीर बल पर विश्वास किया जा रहा है, भौतिक बल पर विश्वास किया जा रहा है, लेकिन लोगों का आत्मबल और आध्यात्मिक बल पर विश्वास नहीं होता है । पर्युषण पर्व की स्थिति का प्रसंग चल रहा है । क्या आप अपने आत्मबल को बढ़ाने का निश्चय करेंगे ? क्या आप अपने आत्मबल के पूर्ण विश्वास के साथ किसी भी संकट के सामने खड़े हो सकेंगे ? आत्म बल पर पूर्ण विश्वास होना चाहिये , लेकिन ध्यान रखिये कि यह विश्वास आप आज करें या कल करें अथवा कभी करें, परन्तु करना अवश्य होगा क्योंकि आत्म बल ही सर्वश्रेष्ठ बल होता है । जब भी इस पवित्र बल की प्राप्ति होगी, तब ही पता चलेगा कि इस आत्म बल की कैसी श्रेष्ठता होती है ?

आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास करने से आत्म बल बढ़ता है तथा उसकी अभिवृद्ध होती है । कवि ने आत्म बल की महिमा में निम्न भाव प्रकट किये हैं-

*आत्म बल ही है, सब बल का सरदार ।*

*आत्म बल ही है ... ..*

*आत्म बल वाला अलबेला,*

*निर्भय होकर देता हेला ।*

*लड़ कर सारे जग से अकेला, लेता बाजी मार ।*

*कैसी भी हो फौज भयंकर,*

*तोप मशीनें ही प्रलयंकर,*

*आत्मबली रहता है बेडर, देता सबको हार ।*

*आत्म बल ही है ... ..*

आत्मबली पुरुष सारे जग से अकेला ही लड़ सकता है और सारे जग को हरा सकता है । शस्त्रास्त्र कैसे भी भयंकर हों-वह भयभीत नहीं बनता है, क्योंकि उसके भीतर अथाह बल भरा हुआ होता है और उसके आधार पर वह हर वक्त निर्भय बना रहता है । ऐसे आत्मबल की प्रतिष्ठा उसका मूल्यांकन आप कर सकें या न कर सकें- यह आप सोचें लेकिन मानव को सर्वोच्च शिखर तक पहुंचाना है तो वह कार्य आत्मबल से ही हो सकेगा ।

आध्यात्मिकता को उन्नत बनावें,

आत्मबल प्राप्त करें :

निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के उन्नायक वीतराग देवों द्वारा प्ररूपित आदर्श सिद्धान्तों को समझें, हृदयंगम करें तथा उनको अपने जीवन में उतारें । आज आध्यात्मिक शक्ति पर वे लोग शोध कर रहे हैं, जो नास्तिक कहलाते हैं । वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति का भिन्न-भिन्न रूप में विकास भी कर रहे हैं । परामनोविज्ञान के क्षेत्र में भी इसी के सहारे वे आगे बढ़ रहे हैं । उनकी शक्ति शुद्ध आध्यात्मिक नहीं है, फिर भी आध्यात्मिकता का पुट जरूर है । स्व आचार्य देव दक्षिण भारत का एक रूपक फरमाया करते थे कि एक फक्कड़ को रेलगाड़ी में नहीं बैठने दिया तो उसने इंजिन के पहियों पर अपनी दृष्टि जमादी । उस दृष्टि में से जैसे श्वेत प्रकाश निकल रहा था, जिससे इंजिन चल ही नहीं पा रहा था । आखिर उसको मनाया तब ही गाड़ी चल सकी । ये तो मामूली आत्मबल की बातें हैं । मुख्य बात तो यह है कि अपनी आध्यात्मिकता को उन्नत बनावें तथा आत्मबल बढ़ावें । वह आत्मबल चमत्कार के पीछे नहीं पड़ेगा, वह तो आत्म विकास की सर्वोच्च श्रेष्ठता को प्राप्त करेगा ।

आध्यात्मिक शक्ति को जगाने के लिये विवेक के साथ दृढ़ संकल्प को लेकर जो आगे बढ़ता है, वह अपने प्रखर आत्मबल से इस संसार में अलौकिक दिखाई देता है । वैसी ही अलौकिकता प्राप्त करने का प्रयत्न प्रत्येक आत्मा को करना चाहिये । आत्मबल की साधना सेठ सुदर्शन ने की थी किन्तु उनके प्रभाव से अर्जुनमाली भी आत्मबली हो गया । आत्म-बल के सहारे ही आत्म कल्याण संभव होता है ।

गंगाशहर-भीनासर

17-8-77

## आत्मोन्नति के प्रति उत्साह क्यों नहीं ?

*आत्मोत्थान के लिए हमारे मानस में उत्साह और साहस होना चाहिए । हंस-हंस कर मनुष्य कर्म बन्धन करता रहता है । कर्म बन्धन तोड़ने की ओर उसका कभी ध्यान ही नहीं जाता । आत्मोत्थान में हंसी मजाक बाधक है । कर्म बन्धन तोड़ने के लिए अच्छी भावनाओं का आना, हितकारी कार्य करना, और निस्वार्थ गति से आगे बढ़ने से ही कर्म बन्धन हल्के होते हैं । वीतराग वाणी का चिन्तन-मनन कर उन्हें आत्मसात करना ही इसका सच्चा समाधान है ।*

*अर्थ लोलुपता ने मानव जीवन को दुखी और उत्साहहीन बना दिया है । उसका जीवन हर समय निराशाओं से घिरा रहता है, इसीलिए धन-दौलत की लालसा बहुत बुरा परिणाम देने वाला होता है । अगर हम अपने अन्दर झांक कर देखें तो पता चलेगा कि हमारी साधना में ही, हमारे आचार-विचार में ही और हमारी दृष्टि में ही कहीं कोई त्रुटि है । इस त्रुटि को दूर करने के लिए समता के साथ लोभ-लालच को त्यागना होगा ।*

*सौभाग्य से जिन्हें वीतराग वाणी प्राप्त हुई है । वे परमाणु विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान को समझने का यत्न करें तो सही समाधान प्राप्त हो सकेगा । एक के पास विनाश है तो दूसरे के पास उत्थान है । वीतराग वाणी ही सच्ची शान्ति और सच्चा सुख दे सकती है ।*

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरं रे .....

पावन पर्व पर्युषण के पवित्र दिवसों में आत्मिक शुद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिये । इस जीवन के भीतर में जिस तत्त्व का शासन है एवं जिसकी बद्दौलत इस शरीर की चहल-पहल, उठना-बैठना, खाना-पीना, शयन आदि समग्र क्रियाएं हो रही हैं, उस विशिष्ट तत्त्व को इन दिनों में निखार लिया तो जीवन का एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण कार्य बन जायगा ।

आत्मशुद्धि के सहारे जितना भी कार्य बनेगा, वह सुन्दर एवं समुन्नतिकारक ही होगा । संसार में रहने वाले व्यक्ति यदि सांसारिक कार्यों को भी व्यवस्थित रूप से करना चाहते हैं और उनमें नैतिकता एवं शालीनता की दृष्टि रखना चाहते हैं तो इन सभी कार्यों के पूर्व उन्हें आत्मशुद्धि का खयाल रखना होगा । आत्मशुद्धि का लक्ष्य होगा तो उस अवस्था में ही वे कुछ शांति और सुख का अनुभव कर सकेंगे, क्योंकि आत्मशुद्धि से ही आत्मोन्नति का कार्य सहज बनता है ।

अभावों से घिरकर मनुष्य  
आत्मोन्नति से दूर होता है :

जब कभी किसी भी विषय में मनुष्य के सामने बाधा आती है तो वह सोचता है कि यह वस्तु मुझे प्राप्त होने ही वाली थी और सहसा मेरी वह इच्छित वस्तु दूसरे को प्राप्त हो गई-ऐसा क्यों हुआ ? इस बनाव के पीछे उसकी बुद्धि वर्तमान को ढूँढती है । लेकिन ज्ञानीजन वर्तमान के साथ भूतकाल को भी स्मृति-पटल पर उभारते हैं और उसका अनुसंधान करके बताते हैं कि यह जो तुम्हें मिलने वाली उपलब्धि थी, वह तुमको प्राप्त नहीं हो पाई- इसका कारण तुम्हारे ही द्वारा पूर्व में बांधे गये अन्तराय कर्मों का परिणाम है लेकिन इस तथ्य को जब तक यह मनुष्य नहीं समझता है, तब तक वह अभावों में घिर कर कुछ ऐसे ऊंचे-नीचे प्रयत्न भौतिक उपलब्धियों के लिये करता रहता है कि वह स्वयं की आत्मोन्नति से दूर हो जाता है ।

मनुष्य जब अन्तराय कर्मों का बंध करता है तो हंस-हंस कर करता है । हंसी, मजाक या मखौल में किसी भी व्यक्ति की प्राप्ति में बाधा डालता है तो वह उस समय डाली हुई बाधा उस कर्म के उदय में आने पर उसके स्वयं के लिये बाधा बन कर खड़ी हो जाती है । वह दूसरों को जो अन्तराय देना चाहता है, उसकी स्वयं की अन्तराय बंध जाती है और अन्तराय कर्मों के बंध के परिणाम स्वरूप वह आत्मा अपनी ही आत्मिक शुद्धि से दूर हटती है । वह वर्तमान जीवन को भी सही नहीं बना सकती है तथा इस जीवन में उस अशुद्धता के कारण जैसे-तैसे जिन्दगी को गुजार करके परलोक के लिये प्रयाण कर जाती है । उसकी अपनी आत्मिक उन्नति की तरफ रुचि बनती ही नहीं है । वह स्थिति आत्मोन्नति के प्रति इस रूप में उत्साह हीनता की स्थिति हो जाती है ।

इस स्वयं के कर्म बंधन को तोड़ना  
किस माध्यम से ?

यह सब जो प्रसंग है- वह सब स्वयं के द्वारा ही किये गये कर्म बंधन के कारण है । इस कर्मों के बंधन को किस माध्यम से तोड़ना-इसकी खोज कई प्रकार से की जाती है । पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपनी शक्ति के अनुसार दार्शनिक दृष्टिकोण से अपना विवेचन किया है । मनोवैज्ञानिक आधार पर भी इस विषय का विश्लेषण हुआ है, लेकिन मनोविज्ञान स्वयं इस समस्या का विशिष्ट समाधान नहीं है । इसका सही निर्णय एक विशिष्ट शक्ति द्वारा ही किया जा सकता है और उसका निर्णय भी स्वयं के अनुभव पर आधारित होता है ।

शरीर की प्रवृत्तियों को देखकर इन्सान भीतर में सोचता है कि ये प्रवृत्तियां किसके माव्यय से हो रही हैं ? कई बार मनुष्य भीतर से चाहता है कि अमुक-अमुक कार्य मैं नहीं करूं और सहसा उस कार्य में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है, तब उसके मस्तिष्क में चिन्तन चलता है कि मैं इस कार्य को नहीं करना चाहता था परन्तु मेरे द्वारा वह कर लिया गया, ऐसा क्यों हुआ ? शरीर उस कार्य को रोकना चाहता था और वह नहीं रोक पाया तो उसके पीछे कोई तथ्य अवश्य होना चाहिये । इस तथ्य के सम्बन्ध में वह फिर जिस प्रकार की संस्कृति में पला होता है, उसके आधार पर खोज करता है ।

मनोविज्ञानवेत्ता मानसिक धरातल पर चिन्तन करते हैं । उनका कहना है कि मन की गतिविधियों से-उसकी वृत्तियों से ही उस कार्य में भी प्रवृत्ति हो जाती है जिस कार्य को शरीर नहीं करना चाहता था । प्रवृत्ति का मूल कारण मन की वृत्ति में रहा हुआ होता है । यूरोपीय विद्वानों ने मन की वृत्तियों का विशद विश्लेषण किया है और उनमें एक डैकार्ट नामक विद्वान् ने जो निष्कर्ष निकाला है, उसके द्वारा जन- मानस में एक समस्या पैदा हो गई । उसका कथन यह रहा है कि शरीर और मन ये दोनों बिल्कुल अलग हैं । शरीर पिंड क्रिया का माध्यम मात्र है तथा चेतना से शून्य होता है । वह अवकाश की स्थिति वाला है । मन ठीक इससे विपरीत तत्त्व होता है । वह क्रिया और चैतन्य के साथ-साथ अवकाश की स्थिति वाला भी नहीं है । प्रश्न पैदा कर देना सहज है, लेकिन प्रश्न का समाधान देना कठिन होता है । उसने प्रश्न तो कर दिया और अन्य व्यक्तियों को उलझन में डाल दिया, लेकिन स्वयं

समाधान नहीं दे पाया । परिणामस्वरूप पढ़े-लिखे कई लोगों ने विज्ञान की दृष्टि से भी इस प्रश्न पर चिन्तन किया लेकिन उन लोगों के द्वारा भी वैज्ञानिक परिभाषा से उसका यथेष्ट समाधान सामने नहीं आ सका ।

यदि इन विद्वानों ने वीतराग वाणी का भली प्रकार से अध्ययन और चिन्तन-मनन किया होता तो उनको अवश्य सही समाधान प्राप्त हो जाता है । वे इसके द्वारा मन और शरीर का सम्बन्ध भी ज्ञात कर लेते तथा क्रिया और अवकाश की सही स्थिति को भी समझ लेते । उनके लिये इस प्रकार का संयोग, संभव है, नहीं जुड़ पाया अथवा किन्हीं को निमित्त भी मिला हो, लेकिन उनके ज्ञान के अन्दर पारिभाषिक शब्द स्पष्ट नहीं हुए हो और उनकी इस विषय में उपेक्षा हो गई हो । जो कुछ भी हुआ हो, लेकिन जैन दर्शन की दृष्टि से इस प्रश्न का भव्य समाधान है और यह भी कहा जा सकता है कि वह समाधान त्रिकाल-अबाधित है । कर्म बंधन एवं कर्म क्षय के सम्बन्ध में पूरी एक विचार प्रणाली है तथा उसकी पूर्ण व्यावहारिक पृष्ठभूमि है जो स्वयंसिद्ध है ।

शरीर, मन और आत्मा :

पारस्परिक क्रियाशील सम्बन्ध :

जैन दर्शन इस शरीर के अन्दर तीन वर्गों की स्थिति का एक दृष्टि से प्रतिपादन करता है । यह शरीर बाहर से दिखाई देने वाला पुतला है लेकिन इस शरीर का संचालन करने वाला है तो वह शरीर के समकक्ष होकर ही शरीर का संचालन कर सकता है । वह शरीर से सर्वथा भिन्न होकर शरीर का संचालन नहीं कर सकता है । जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार शरीर जिन तत्त्वों से निर्मित हुआ है उसको औदारिक वर्गणा कहते हैं । शरीर की वर्गणा से मन की वर्गणा अधिक सूक्ष्म होती है । ये वर्गणाएं एक प्रकार के परमाणुओं की पिंड रूप होती है । व्यवहार में कुल आठ वर्गणाओं का प्रयोग होता है । इनमें से सातवीं मनोवर्गणा कही गई है । इस वर्गणा से मन का निर्माण होता है । लेकिन मनोवर्गणा भौतिक तत्त्व है और भौतिक तत्त्व से भौतिक द्रव्य का ही निर्माण होता है । शरीर भौतिक है तो मन का वह भेद जो द्रव्य मन कहलाता है, वह भी भौतिक है । शरीर और द्रव्य-मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । क्योंकि ये दोनों एकजातिय द्रव्य हैं । इन दोनों का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा सम्बन्ध शरीर और आंख का होता है । आंख के द्वारा देखना तभी हो सकेगा जब आंख के पास द्रव्य मन आयगा ।

तो जहां शरीर की स्थिति के साथ अन्दर के अन्तःकरण का स्वरूप द्रव्य मन के रूप में आता है, वहां इस द्रव्य मन की स्थिति का संचालन करने वाला भाव मन होता है और इस भाव मन को आत्मा की शक्ति माना गया है । भाव मन चैतन्य है, ज्ञानवान है, और क्रिया युक्त है क्योंकि वह आत्मा की स्वयं की क्रियावती शक्ति के साथ जुड़ा होता है । इधर द्रव्य मन भी क्रियायुक्त होता है, लेकिन द्रव्य मन की भाव रहित अवस्था चैतन्य अवस्था नहीं होती है, फिर भी क्रिया रहती है । शरीर जिन तत्त्वों से बना है, वे जड़ तत्त्व हैं । लेकिन जड़ तत्त्व जो चैतन्य के साथ संयुक्त होता है, उसमें क्रिया की शक्ति तो अवश्य आ जाती है, परन्तु उसमें स्वयं की संचालन शक्ति नहीं होती है । इसलिये शरीर, मन और आत्मा ये तीन वर्ग हैं और मन दोनों के बीच की कड़ी है जो अपने दो भेदों-द्रव्य मन तथा भाव मन के माध्यमों से आत्मा और शरीर को परस्पर सम्बन्धित बनाता है ।

आत्मा पूर्ण चैतन्य स्वरूप होती है जो संचालन एवं क्रिया शक्तियों से सम्पन्न होती है । भाव मन इस आत्मा की ही शक्ति का प्रतीक होता है और आत्म-शक्तियों को संचालित करता है । उधर शरीर पूर्णतया जड़ तत्त्वों से निर्मित होता है तो उसके साथ ही द्रव्य मन भी जड़ निर्मित होता है । यह द्रव्य मन और भाव मन का पारस्परिक सूक्ष्म सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा को जोड़ता है । जड़-चेतन संयोग की मुख्य भूमिका का निर्वाह इस रूप में मन करता है । भाव मन की चेतना से द्रव्य मन की कल्पना करते हैं और वह इस भाव मन को शक्तिशाली बनाता है । यह विषय मनोविज्ञान की दृष्टि से अधिक गहन है, लेकिन मनोविज्ञान के स्वरूप तथा उसकी सम्पूर्ण पृष्ठभूमि का अपने अन्दर समावेश करने वाला है तथा मनोविज्ञान को सार्थक दिशा देने वाला है । यदि मनोविज्ञानवेत्ता इस प्रकार के तत्त्व को पहिचान लें और शरीर, मन तथा आत्मा के पारस्परिक क्रियाशील सम्बन्धों को समझ लें तो उनकी सारी उलझी हुई समस्याएं सुलझ जायेंगी ।

वे लोग समझें या न समझें, लेकिन जिन लोगों को सौभाग्यपूर्ण विरासत से वीतराग वाणी प्राप्त हुई है, वे ती इस परमाणु विज्ञान की आध्यात्मिकता के साथ समझने का अवश्य ही प्रयास करें । वे शरीर, मन तथा आत्मा के इन पारस्परिक क्रियाशील सम्बन्धों को भलीभांति हृदयंगम कर लें तथा उनके अनुसार अपने जीवन की गतिविधियों को सन्तुलित बना लें तो वे अपने जीवन में आशातीत आत्मोन्नति सम्पादित कर सकते हैं । उनके लिये तो ज्ञान एवं क्रिया की दृष्टि से यह उत्साहदायक पाथेय है ।

## वर्तमान उत्साहहीनता के कारण बहिर्मुखी वृत्ति में निहित :

आज के वर्तमान जीवन की स्थिति किस प्रकार और किस रूप में ढल रही है ? आज के युवकों के मन में क्या क्या तरंगे हैं और उनका उत्साह किस दिशा में बह रहा है ? क्या वे आत्मोन्नति के प्रति सजग हैं ? और यदि सजग नहीं हैं तो उनकी इस उत्साहहीनता के क्या कारण हैं ? क्या वे उत्साहहीन होकर किंकर्तव्यविमूढ़ तो नहीं बन रहे हैं ?

वर्तमान समाज के ये सब जलते हुए प्रश्न हैं, जिनका यही और समुचित समाधान ढूँढने के लिये स्वयं युवकों को भी विचार करना है तथा प्रौढ़ एवं प्रबुद्ध वर्गों को भी विचार करना है । उस विचार विमर्श में समूचे सामाजिक आचरण पर भी दृष्टि डालनी होगी और यह भी देखना होगा कि क्या वर्तमान सामाजिक वातावरण नई पीढ़ी पर श्रेष्ठ संस्कार डालने तथा उनका सही जीवन निर्माण करने के अनुकूल एवं योग्य भी है ? किसी भी समाज में यदि उत्साह गलत दिशा में बहता है और सही लक्ष्य के प्रति उत्साहहीनता की मनोवृत्ति रहती है तो वैसा समाज किसी भी उन्नति की दिशा में स्वस्थ प्रगति नहीं कर सकता है । उस उत्साहहीनता के चक्र को तोड़ना ही होगा ।

इस उत्साहहीनता के कारणों पर गहराई से दृष्टिपात करेंगे तो ज्ञात हो जायगा कि ये सब कारण आज के मानव की बढ़ती हुई बहिर्मुखी वृत्ति में निहित हैं । न्यूनाधिक रूप में इस वृत्ति का कुप्रभाव अधिकांश लोगों पर है और वे लोग अपनी आत्मिक शक्तियों को गौण बना कर यंत्र की तरह पैसा, पद और प्रभुत्व कमाने में लगे हुए हैं । क्योंकि उनके मस्तिष्क में यह बात बैठी हुई है कि इस दुनिया में सर्वांगीण शक्ति का जो मापदंड है, वह अर्थ है । अर्थ से सारी उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं । वे देखते हैं कि समाज राजनीति और अन्यान्य श्रेणी के क्षेत्रों में वे ही लोग आगे बढ़ते हैं और आदर पाते हैं जो अर्थ सम्पन्न होते हैं । इसलिये वे सोचते हैं कि हम येनकेन प्रकारेण अधिक से अधिक अर्थोपार्जन करें, संसार में अपनी बाहरी प्रतिष्ठा बनावें तथा शरीर सुख से सम्बन्धित जो कुछ पदार्थ हैं, उनका उपभोग करें । इस लालसा से जिनके पास अर्थ है, वे भी और अर्थ-हीन भी भरसक दौड़ भाग कर रहे हैं एवं अपनी अमूल्य शक्तियों का अपव्यय कर रहे हैं । इस अपव्यय के बाद भी कोई गारंटी नहीं है कि उनको मन चाहे पैसे की प्राप्ति हो ही जाय, बल्कि ज्यादातर लोग पैसे की हाय-हाय में ही सारी जिन्दगी बरबाद कर देते हैं तथा ढाक के तीन पात तीन के तीन ही रहते हैं ।

अर्थ की उद्दाम लालसा में बहिर्मुखी-वृत्तियां सारे मानव जीवन पर हावी होती जाती हैं और उनकी चपेट में आकर मानव अपने भीतर झांकने की और अपने आत्म स्वरूप को पहिचानने की चेष्टा ही नहीं कर पाता है । आत्मोन्नति का उत्साह फिर उसके अन्तःकरण में कहाँ से पैदा हो ? बहिर्मुखी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर बचपन खेल-कूद में बीत जाता है और तरुणाई अर्थ की लालसा में-भोग की कामना में बीत जाती है । तरुणाई जाने के साथ ही शक्तियां शिथिल होने लगती हैं तथा वृद्धावस्था पर-मुखापेक्षी होकर सन्तान का मुंह देखती रह जाती है । सारा जीवन पते पर पड़ी ओस की बूंद के समान नष्ट हो जाता है और आत्मोन्नति के कार्य का कोई भी महत्वपूर्ण कदम नहीं उठता है । इस प्रकार की दयनीय स्थिति वर्तमान जीवन की बनी हुई है ।

जिस आत्मा को इतना वैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण शरीर मिला है, शक्ति के साथ गति करने वाला मन मिला है और श्रेष्ठ जीवन का संचालन करने योग्य चेतना शक्ति मिली है, वह चैतन्य आत्मा स्वयं ही अपने स्वरूप को नहीं पहिचान पा रही है तथा निजत्व से ही संज्ञाहीन सी बन रही है तो बताइये कि उसकी आन्तरिकता में अपनी वास्तविक उन्नति का उत्साह कैसे पैदा हो, क्योंकि उसकी चेतना पर जड़ शक्तियां हावी हो रही हैं तथा उसकी दृष्टि बहिर्मुखी बनी हुई है ?

## आत्म प्रतीति, आत्म-ज्ञान एवं आत्म-पुरुषार्थ का मार्ग :

जिन आत्माओं ने भीतर के इस जीवन की महत्वपूर्ण कड़ियों को समझा, वे आत्माएं इन समग्र दृश्य पदार्थों की ओर से मुंह मोड़ कर आत्मीयता के शुभ कार्य में लग गईं । लेकिन ऐसी उन्नतिशील आत्माएं विरली ही होती हैं, बल्कि बहुत ही विरली होती हैं । एक प्रतिशत क्या-लाखों करोड़ों में कुछ ही व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जो वर्तमान वायुमंडल से ऊपर उठते हैं और अपनी आत्म प्रतीति, अपने आत्म-ज्ञान एवं आत्म-पुरुषार्थ के माध्यम से अपने आत्म कल्याण के मार्ग पर गमन करते हैं ।

आत्म कल्याण के मार्ग पर चलने वालों की इतनी कमी क्यों रहती है ? इसमें वास्तव में संस्कारिता की कमी है और सही संस्कार नहीं होने के कारण जिज्ञासा वृत्ति नहीं पनपती है । जिज्ञासा वृत्ति के अभाव में आत्म प्रतीति संभव नहीं बनती है । यदि

आत्मप्रतीति ही नहीं है तो आत्म ज्ञान तथा आत्म-पुरुषार्थ का प्रश्न ही नहीं उठता है । इसलिये मूल में संस्कार-शुभ और आध्यात्मिक संस्कारों की आवश्यकता होती है । संस्कारों की जैसी छाप बाल्यकाल में पड़ जाती है, वह पूरे जीवन तक बनी रहती है । शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से छोटे बच्चों में जितनी गहरी समझने की क्षमता तथा जीवन को सूक्ष्मता से ढालने की योग्यता होती है, उतनी बड़े हो जाने के बाद नहीं जान पड़ती है ।

आप जानते हैं कि आम्र वृक्ष के पौधे को, जब तक वह छोटा और कोमल होता है, चाहे जिस दिशा में मोड़ना सहज होता है । माली चाहे जिस तरीके से उस पौधे को मोड़ सकता है । फिर वह उसी रूप में बढ़ेगा, जिस रूप में उसको मोड़ दिया गया है । लेकिन वही आम्रवृक्ष जब काफी बड़ा हो जावे और उसका तना मोटा बन जावे-तब क्या उसे मोड़ा जा सकता है ? उसमें तब इतनी कठोरता आ जाती है कि माली लाख चाहे फिर भी उसको मनचाहे तरीके से मोड़ देना दुष्कर हो जाता है । इसी रूप में मानव जीवन की भी स्थिति होती है । बालक जब जन्म लेता है तो उसका शरीर माता के स्तन पान से रस ग्रहण करता हुआ धीरे-धीरे बढ़ता है । वह जीवन की कोमल अवस्था होती है । उस समय बालक की ग्रहण शक्ति भी बहुत तीव्र होती है जिस कारण उस समय यदि उसके मानस पर शुभ और श्रेष्ठ संस्कार डाले जाये तो उसका भावी जीवन उन्नतिशील बन जाता है । उस वक्त उस बच्चे में जैसी भी भावना की इच्छा हो, वैसी भावना का प्रसंग मनुष्य उपस्थित करता है तो बच्चा वैसा ही बन जाता है । उसके संरक्षक और अभिभावक यह सोच लें कि बच्चे को अति विशिष्ट पुरुष बनाना है और वैसे संस्कार दें तो एक अबोध बच्चा उस रूप में भी अपने जीवन का निर्माण कर सकता है ।

संस्कारों की भी एक शृंखला होती है जिस के आधार पर सामाजिक पद्धति का विकास होता है । आज जिस रूप में सामान्य जीवन बहिर्मुखी बना हुआ है, उसको देखते हुए नये अन्तर्मुखी वातावरण के निर्माण में विशेष प्रयासों की आवश्यकता होगी । वर्तमान के बाल-समाज पर यदि इस वातावरण को प्रभावशाली बना दिया जाता है तो आगे आन्तरिकता, हार्दिकता एवं आध्यात्मिकता की शृंखला जुड़ती हुई चली जायगी । फिर विशेष श्रम की आवश्यकता नहीं होगी । नई पीढ़ी की दृष्टि को यदि अन्तर्मुखी संस्कार दे देते हैं तो उसमें जिज्ञासा भी जायेगी और वह प्रारंभ से ही आत्म-प्रतीति, आत्म-ज्ञान तथा आत्म पुरुषार्थ के माध्यमों से जीवन का सुव्यवस्थित निर्माण करती हुई चली जायगी ।

## एवंता आदि मुनियों के प्रसंग तथा छोटी अवस्था में साधु बनने का प्रश्न :

शास्त्र में एवंता मुनि का प्रसंग आया है । एवंता मुनि एक छोटे से कोमल राजकुमार थे जिनकी आयु नौ वर्ष से अधिक नहीं थी । शास्त्रकारों ने केवल ज्ञान के प्रसंग से केवली की जो उत्कृष्ट आयु बताई है, उसकी स्थिति से फलित रूप में नौ वर्ष की अवस्था में साधु बनता है और थोड़े समय में केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो कुछ कम करोड़ पूर्व तक विचरण कर सकता है । बारहवीं भिक्षु प्रतिमा का श्मशान में जाकर ध्यान लगाने का जो प्रसंग है, उसमें 26 वर्ष की आयु और 20 वर्ष की दीक्षा का विधान है जिसका यही अर्थ निकलता है कि 6 वर्ष के बालक को उसकी भावना के अनुसार साधु बनाना उचित माना गया है । इसका आधारगत भाव यही है कि इस अवस्था में जो उत्तम संस्कार उस बालक पर पड़ जायेंगे, वे उसे आत्म-कल्याण की अनुपम प्रेरणा देते रहेंगे ।

कई अपने आपको सुधारवादी कहने वाले यह प्रश्न खड़ा करते हैं कि इतनी छोटी अवस्था में क्या किसी को साधु बनाना उचित है ? यह कोई नई बात नहीं है । शास्त्रीय दृष्टि से एवंता मुनि का रूपक है, जिस पर आप गहराई से चिन्तन करें ।

प्राचीन काल में आज जैसी शिक्षा प्रवृद्धि प्रचलित नहीं थी । बच्चे पर कई विषयों व पुस्तकों का बोझ नहीं लादा जाता था बल्कि प्रारंभिक वय में धाय माता उसे पालती और संस्कार देती थी । इसी रूप में एवंता राजकुमार का लालन-पालन हुआ । वह आठ वर्ष की आयु का था तब तक एक दिन वह अपने साथियों के साथ खेल रहा था तो उधर से गौतम स्वामी पधारे । गौतम स्वामी के दर्शन करते ही बालक एवंता का मन प्रमुदित हो उठा । वह खेल भूल गया और उनसे निवेदन करने लगा कि भगवन् भिक्षा के लिये मेरे घर पर पधारें । वह गौतम स्वामी की अंगुलि पकड़ कर ले चला । गौतम स्वामी परम ज्ञानी थे, उन्होंने बालक के भवितव्य को पहिचान लिया ।

महारानी ने जो एवंता कुमार की प्रतीक्षा कर रही थी जब एवंता कुमार के साथ गौतम स्वामी को पधारते हुए देखा तो उनका हृदय उल्लास से भर उठा । महारानी ने गौतम स्वामी की अभ्यर्थना की तो कुमार के पुण्यों को भी सराहा । गौतम स्वामी को निर्दोष

आहार बेहराया । कुमार उनसे ऐसा कुछ प्रभावित हो गया कि वह उनके ही साथ हो गया और महावीर प्रभु के पास पहुंच गया । उसकी उत्कृष्ट भावना को जान कर प्रभु ने उस बालक को उपदेशामृत का पान कराया । उपदेश सुन कर बालक दीक्षित बनने को तत्पर हो उठा । भगवान् ने यही कहा जहां सुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबंध करेह ।

एवंता कुमार घर पहुंचा । भगवान् के दर्शन, उपदेश आदि की बात कहकर उसने अपने संकल्प को व्यक्त कर दिया । माता वगैरह सबने बहुत कुछ समझाया, मगर कुमार अपनी बात पर दृढ़ हो गया कि मैं अवश्य साधु बनूंगा । माता ने कहा-तुम अभी बच्चे हो, तुम धर्म और तत्व को क्या समझते हो ? एवंता कुमार ने उत्तर दिया मैं जिसे जानता हूं, उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता हूं, उसे जानता हूं । इसका अभिप्राय समझाते हुए कुमार ने आगे कहा मैं यह जानता हूं कि जिसने जन्म लिया, वह अवश्य मरेगा, किन्तु यह नहीं जानता कि वह किस काल में, किस स्थान पर, किस प्रकार और कितने समय बाद मरेगा ? बालक की उत्कट भावना के आगे किसी की कुछ नहीं चली और उनको दीक्षा देने की आज्ञा देनी पड़ी ।

दीक्षा होने के पश्चात जब स्थविर संतों के साथ एवंता मुनि बाहर निवृत्ति के लिये गये तो पहले वर्षा हुई थी उसका पानी इधर उधर बह रहा था । उन के हाथ में छोटी पातरी थी ही सो जल्दी निबटते ही पानी की एक घारा में अपनी पातरी डाल कर नाव तैराने लगे । स्थविर सन्त जब निप्रट कर आये और एवंता मुनि को इस तरह खेल करते हुए देखा तो उनके मन में ऊंचे नीचे परिणाम आये । प्रभु ने वहां पहुंचने पर स्पष्टीकरण किया-बच्चा समझ कर हंसी मत करो । यह चरम शरीर आत्मा है । यह आत्मा इसी भव में मोक्ष जाने वाली है । वह नाव क्या तैरायी है, इनकी नाव तैर कर पार पहुंचने वाली है ।

एक कवि ने एवंता मुनि द्वारा नाव तैराने का काव्यमय भाषा में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है-

*एवंता मुनिवर, नाव तैराई बहता नीर में ... ..  
बेले बेले करे पारणा, गणधर पदवी पाया ।  
महावीर की आज्ञा लेकर; गौतम गोचरी आया रे ... ..  
खेल रहा था खेल कंवरजी, देख्या गौतम आता ।  
घर घर मांही फिरे हींडता, पूछे इसड़ी बातां रे ... ..  
अहो बालुड़ा महापुण्य वंता, भली जहाज घर आणी ।  
हर्ष भाव हाथों से करने, बहराया अन्न पाणी रे ... ..  
तू कांई जाणे साधपणाने, बाल अवस्था थारी ।  
उत्तर दीधो ऐसी कंवर जी, मात कहे बलिहारी रे ... ..*

आत्मोन्नति की भावना देना

और उपजना :

एवंता मुनिवर के रूपक पर चिन्तन करिये । साधु जीवन की बात बच्चे के मस्तिष्क में जितनी गहनता से नहीं आई थी उतनी गहनता से भगवान् के मस्तिष्क में थी और इस बच्चे का संरक्षण उनके ध्यान में था । स्वयं बच्चा अपनी सुरक्षा के लिये क्या चिन्तन कर सकता है ? सुरक्षा का अर्थ आप जानते हैं । माता-पिता बच्चे के लिये अच्छी बात का चिन्तन करते हैं या बुरी बात का ? जो सुझा माता-पिता होते हैं, वे बच्चे के लिये कभी बुरी बात नहीं सोचते हैं । बच्चे का जीवन उस पर उतना निर्भर नहीं है जितना सुरक्षा पर है । तो सोचिये कि एवंता मुनि के माता-पिता ने साधु जीवन के सुरक्षात्मक आधार को सोच समझकर ही दीक्षा की आज्ञा दी । गजसुकमाल का भी ऐसा ही प्रसंग है और महारानी मदालसा ने अपने कुमारों को ऐसे संस्कार दिये कि वे आत्म-कल्याण की साधना में निपुण बन गये ।

आत्मोन्नति की भावना इस रूप में बालकों को देनी होती है-उनमें प्रारंभ से ऐसे संस्कार डालने होते हैं कि जिनसे प्रभावित बनकर वे आत्मोन्नति के अभिलाषी बनें । आत्मोन्नति की भावना जब दी जाती है तभी संस्कार-सम्पन्न हृदयों में वह भावना उपजती

है । महारानी मदालसा अपने बालकों को झूला देते समय यह हालरिया गाया करती थी कि तू सिद्ध है, तू बुद्ध है । तू निरंजन है और यह संसार स्वप्न है । इस तरह पालने के संस्कार बच्चे पर अमिट बन जाते हैं ।

इस दृष्टि से चिन्तन करें तथा बच्चों में पवित्र संस्कार भरने का प्रयत्न करें । आत्मोन्नति की भावना उनको दे-उनके संस्कारों में फूट-कूट कर भरें, तभी समय आने पर वह भावना उन बच्चों के हृदयों में उपजेगी और वे आत्म-कल्याण के मोड़ पर अग्रसर बनेंगे ।

आत्मोन्नति के संस्कार :

उत्साह जगाने की आवश्यकता :

आज के सामाजिक जीवन की दशा देखिये । बच्चों को घर में पवित्र संस्कार मिलते नहीं हैं क्योंकि माता-पिता स्वयं को अपनी नैतिकता और पवित्रता का भान नहीं है । पाठशालाओं में और विद्यालयों में नैतिक संस्कार तो दूर रहे-पुस्तकों में कुछ नैतिकता की बातें आती हैं, वे भी अध्यापकों के गिरे हुए चरित्र को देखकर बालक के मस्तिष्क से गायब हो जाती है । घर और बाहर जब बच्चे को शुभ संस्कार नहीं मिलते तो उसका जीवन बिगड़ता ही है । वह बड़ा होकर धर्म की मखौल उड़ाता है, परमात्मा की बात पर हंसता है और धर्म कार्यों से दूर-दूर रहता है । यह संस्कारहीनता ही आत्मोन्नति के प्रति उत्साहहीनता की परिचायिका है ।

यह अपराध किसका है ? क्या बच्चे का है ? अपराध को दूसरों पर न डालें-जिम्मेदारी अपने पर लें । संस्कार किसने नहीं दिये ? क्यों नहीं दिये ? क्या स्वयं के जीवन में वैसे संस्कार हैं अथवा नहीं ? इन प्रश्नों पर भी अपने जीवन को देखते हुए सोचें । आपके सामने सत्य वस्तु-स्थिति आयेगी तो आपको भी अपने जीवन में परिवर्तन लाने होंगे और बच्चों के जीवन का तो नव-निर्माण करना होगा । तब आत्मोन्नति के प्रति उत्साहहीनता का वातावरण नहीं रहेगा । सब के मन में आत्म-कल्याण का उत्साह जगमगाने लगेगा ।

गंगाशहर-भीनासर

18-8-77

## क्षमा भी एक महान् तप है

तप शब्द का बड़ा भारी महत्व और अर्थ है । शब्द के साथ भावों का अर्थ भी जुड़ा हुआ होता है । भावों का प्रभाव भी तप का रूप लेता है । क्षमा भी एक महान् तप है । क्षमा से जीवन में महान परिवर्तन होता है । कर्मों की कोई ताकत आत्मा को नहीं दबा सकती । क्षमाभाव अन्तर से उठता है, अन्तर से बहता है और अन्तर से ही परिवर्तन होता है । क्षमा से जीवन बदल जाता है । भारहीन हो जाता है । क्षमा दैवीय गुण है । जो क्षमाभावों से अलंकृत हैं, उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता ।

शब्दों का शुद्ध भाव आत्मा में उतर जाना चाहिए । शब्दों को सीखना एक बात है, और भावनाओं को आत्मा में आत्मसात करना दूसरी बात है । शिक्षा सिर्फ बुद्धि के धरातल पर ही सीमित रहती है । बुद्धि वादी व्यक्ति शब्द जरूर बोलता है, मगर उसका क्या असर होता है उसे अपने भीतर देखें तो पता चलेगा कि नैतिकता की क्या दशा है ।

अनादि काल से जो आदत बन गई है । उसी के अनुसार क्रियाएं होती हैं । इस आदत को बदलना आसान नहीं है । शब्दों को बदलने के लिए अच्छा साहित्य पढ़ें, अच्छे शब्दों को सुने, आगमों को पढ़ें, और शुभ भावों को आत्मा में उतारें ताकि जीवन में परिवर्तन हो सके ।

बोलना सरल है, मगर उसको जीवन में उतारना बड़ा कठिन है । रानी मृगावती ने महावीर की वाणी सुनने के बाद साम्राज्य के वैभव का गर्व छोड़ दिया । जड़त्वों की आसक्ति से उन्होंने मन और इन्द्रियों को बाहर निकाल दिया ।



## पद्म प्रभु जिन तुज मुझ आंतरं रे .....

इस चैतन्य देव को जागृत करने के लिये शब्द-रचना भी माध्यम बनती है । शब्द का प्रयोग सीमित ही होता है तथा कुछ सीमा तक ही वह पहुंच सकता है । असीम तक पहुंचने की क्षमता इस शब्द में नहीं होती है । शब्द इस आत्मा को एक स्वर बताता है कि जिससे वह अमुक विषयों से चुप हो जाय । इस अन्तर्चेतना में कर्मों के योग से जो कुछ भी उथल-पुथल हो रही है, उसमें शोरगुल और होहल्ला मचा हुआ है । उस भीतरी कोलाहल को शान्त करने के लिये शब्द अपना काम करते हैं । दूसरे शब्दों में कहूं तो शब्दों के पीछे सवार होकर आने वाला जो भाव है, वे उसको शमित करते हैं । शब्द का अर्थ शब्द तक होता है और भावों का प्रभाव भावों तक जाता है ।

यह क्षमा-याचना का जो प्रसंग है । इस अवसर पर खमतरावण या खमाऊं सा शब्दों का सभी प्रयोग करते हैं । अगर यह प्रयोग कोरे शब्दों का ही हो और उनको भीतर के भाव नहीं छूते हो तो केवल उन शब्दों का कितना सा महत्व होता है ? उन शब्दों के साथ यदि भावों का प्रभाव भी जुड़ा हुआ हो तो निश्चय ही उन शब्दों का प्रयोग तथा भावों का प्रभाव एक प्राभाविक तपश्चर्या का रूप ले लेता है । क्षमा भी एक महान् तप है और यह जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाला तप होता है ।

## शब्दों का प्रयोग

### जब भावनाओं से जुड़ता है :

वाहन कैसा भी हो, उस वाहन का उतना महत्व नहीं है, जितना उस वाहन को काम में लेने वाले का होता है । शब्द का प्रयोग जड़ तत्व नहीं करता । जड़ में शब्द हो सकते हैं लेकिन वह करता नहीं है । शब्दों का प्रयोग करने वाली चैतन्य आत्मा होती है और वह अपने अन्तर्गत भावों को अपने सजातीय चैतन्य के पास पहुंचाने के लिये माध्यम रूप में शब्दों को काम में लेती है । मुंह से निकले हुए शब्द श्रोता के कान तक पहुंचते हैं । श्रोता के मन में जो कुछ भी विचित्र बातें चल रही होती है, उन बातों से श्रोता का ध्यान हट करके सुनाई दिये जाने वाले शब्दों की तरफ आकर्षित होता है । उसके मन की तरंगें जागृत होती हैं कि क्या आवाज आई है, कौन क्या कहना चाह रहा है ? वह अपने भीतरी कोलाहल को समाप्त करके शान्त बनता है- एक तरह से भीतरी मौन आ जाती है ।

इसलिये शब्द का काम मौन दिला देना है- कोलाहल की कर देना है । वह मौन उसकी अन्तरात्मा को सच्चे अर्थों में जागृत करने वाली होती है क्योंकि शब्दों का वह प्रयोग भीतर में शान्ति तथा जागृति पैदा करके तत्सम्बन्धी भावों को प्रस्फुटित करता है । वे शब्द तब भावभरे हो जाते हैं । शब्द का प्रयोग तब भावनाओं से जुड़ जाता है । अन्तःकरण उस रूप में जागृत हो जाता है ।

ऐसी जागृति जिस आत्मा में आ जाती है तो उस आत्मा के मुंह से अथवा उस आत्मा के अन्तर्क्षेत्र से सहसा यह निकल पड़ता है कि मेरे स्वरूप और भगवान् के स्वरूप के बीच बड़ा अन्तर है । यह क्यों है ? प्रश्न होता है तो उसके साथ में उत्तर भी मिलता है कि आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर कर्मों के कारण है । कर्मों ने इस आत्मा को मजबूर बना दी है । जो नहीं बोलने वाली है, उसको भी बोलने के लिये बाध्य करदी है । जो पाप नहीं करने वाली है, उसको पापों की प्रवृत्तियों में लगा दी है । जो झगड़ा करने वाली नहीं है, उसको झगड़ाखोर बना दी है । जिसका स्वभाव राग और द्वेष करने का नहीं है, उसको राग और द्वेष से संयुक्त बनादी है । यह कार्य कर्मों की दृष्टि से बना-ऐसा कहा जा सकता है ।

लेकिन यदि ज्ञान के धरातल पर चिन्तन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इन कर्मों को बल देने वाला कौन है ? इन कर्मों को रस देने वाला कौन है ? ये सारे कार्य करने वाली आत्मा है । यदि आत्मा अपने स्वरूप तथा अपने स्वभाव में स्थिर रहती है, अपनी अमोघ शक्ति को समझ कर अमृत का अनुभव करती है और नाशवान तत्वों की तरफ से निरपेक्ष रहती है तो कर्मों की कोई ताकत नहीं कि वे इस आत्मा को दबा दें । आत्मा स्वयं दबी है तो दबी रहती है और जागृत बन जावे तो स्वयं ही जागृत बनेगी । उसको जगाने के लिये शब्द भी काम कर जाते हैं । शब्द इतना ही काम करते हैं कि उसके ध्यान को भावों की तरफ खींच देते हैं । कभी-कभी शब्दों के साथ उनके बोलने वाले की ऐसी आन्तरिक शक्ति जुड़ी होती है कि वे सुननेवालों के भावों को बरबस जगा देते हैं । क्षमायाचना के शब्द भी कभी-कभी ऐसा चमत्कारिक प्रभाव दिखा देते हैं जो दो हृदयों को भावाभिभूत बना कर जोड़ देते हैं ।

शुभ शब्दों के शुभ भाव

## आत्मा में उतर जाने चाहिये :

अक्षर ज्ञान की दृष्टि से अक्षर ज्ञान सीखा जाता है । सीखना एक बात है और उसको आत्मसात करना दूसरी बात है । शुभ शब्दों के शुभ भाव भी आत्मा में उतर जाने चाहिये । विद्यार्थियों में विद्यार्थियों को बहुतेरे विषयों की शिक्षा सिर्फ बुद्धि के धरातल तक ही सीमित रहती है । एक विद्यार्थी उस शिक्षा को ग्रहण कर लेता है तो अपनी स्वयं की बुद्धि के अनुसार अमुक-अमुक क्षेत्र में काम करने लग जाता है । बुद्धि के विस्तार के अनुसार वह व्याख्यान भी दे सकता है । सामाजिक अथवा राष्ट्रीय मंचों पर खड़ा होकर वह समाज या राष्ट्र को सुनाने लगता है कि नैतिकता से रहना चाहिये । प्रश्न उठता है कि पहले नैतिकता से किसको रहना चाहिये ?

वह बुद्धिवादी शब्द जरूर बोल रहा है लेकिन उस का असर क्या पड़ रहा है-इसका उसको कोई पता नहीं होता है । वह अपने ही भीतर भी देखने की चेष्टा करें तो पता लगेगा कि वहां भी नैतिकता की क्या दशा है ? जिसको अपने अन्दर देखने और खोजने का अवसर मिलता है तो वह भी अगर मात्र बुद्धि से काम लेने वाला है तो शब्दों की स्थिति शब्दों की सीमा तक ही रह जायगी । किन्तु यदि वह उन शब्दों को अपने अन्तःकरण के भावों के साथ जोड़ेगा तथा उन भावों को अपने आत्म-चिन्तन में उतारेगा और तदनुसार विशेष प्रयत्न करेगा तो उसके जीवन में महानता को प्राप्त करने की अवस्था आ सकती है ।

प्रार्थना में यह जो कहा गया है कि पद्म प्रभु की आत्मा में और मेरी आत्मा में आज जो अन्तर रहा हुआ है, वह किस प्रकार दूर हो-तो उस अन्तर को दूर करने में शब्द और भाव सबल माध्यम बन सकते हैं । आज जो आत्मा की स्वरूप स्थिति हो रही है, वह उसकी मूल स्थिति नहीं है । अनादिकाल से आत्मा की विपरीत आदत बन रही है और वह आदत भी इतनी असरकारक हो गई है कि कितने भी महत्त्वपूर्ण शब्द हों, उसका ध्यान उस ओर जाने से रस जाता है या छूट जाता है । यह आत्मा इस आदत के अधीन बन गई है । मैं कुछ भावात्मक बातें कहने का आदी हो गया हूं, फिर भी उसको सरल करने के लिये कुछ बातें कह ही देता हूं ।

बात तो छीटी सी है । एक बहुत बड़ा सैनिक था जिसने अपनी योग्य वय में सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त किया था किन्तु वह प्रशिक्षण उसने शब्दों के माध्यम से प्राप्त किया । जिस प्रकार प्रशिक्षण देने वाले संकेत करते थे, उन्हीं के अनुसार वह अपने मन को साध लेता था । जैसे ही सावधान शब्द कहने का प्रसंग आया, वैसे ही वह सावधानी पूर्वक मुद्रा बना लेता । एक दिन का प्रसंग है कि वह सैनिक त्यौहार के अवसर पर मीठाई आदि बढिया चीजें लेकर अपने घर की ओर जा रहा था । बहुत बड़ा शहर था-बाजार में कई व्यक्ति आवागमन कर रहे थे । उन्हीं के बीच में वह भी चल रहा था । एक मसखरे व्यक्ति ने सोचा कि कुछ मनोविनोद कर लूं । सैनिक को दूर से देखकर वह कड़क कर बोला-सावधान । यह शब्द उस सैनिक के कान में पड़ा कि झट से हाथों को सीधा करके वह सावधानी की मुद्रा में खड़ा हो गया । हाथों में ली हुई सामग्री नीचे गिर पड़ी । यह अभ्यास का प्रसंग था । अभ्यास बन जाता है तो आदत हो जाती है और आदत के साथ क्रिया जुड़ जाती है ।

आत्मा की भी अपने स्वभाव से विपरीत दिशा में चलने की जो अनादिकाल से आदत बन गई है तो उस आदत के अनुसार क्रियाएं होती रहती हैं । इस आदत को बदल देना आसान नहीं है । बचपन के संस्कारों को ही बदलने का प्रयास किया जाय तो सारे जीवन में शुभ परिवर्तन सरलता से लाया जा सकता है । वैसे भी प्रत्येक व्यक्ति ध्यानपूर्वक अपनी आदत को बदलने का यत्न करें तो धीरे-धीरे परिवर्तन हो सकता है । इसके लिये आवश्यक है कि शुभ शब्दों को आप सुनें, शुभ साहित्य एवं शास्त्रों को पढ़ें तथा उनसे उत्पन्न शुभ भावों को आत्मा में उतारें ताकि सम्पूर्ण जीवन की गतिविधि में एक शुभ परिवर्तन आ सके ।

## क्षमायाचना के शब्दों के पीछे

### भावना की नितान्त आवश्यकता :

क्षमायाचना का प्रसंग कैसे उपस्थित किया जाय ? शब्द भी शब्द के स्थान पर आवश्यक होते हैं, लेकिन शब्दों के पीछे भावना की नितान्त आवश्यकता होती है। कौरव और पांडव जब अध्ययन कर रहे थे, उस वक्त नैतिकता की शिक्षा देने की दृष्टि से एक अध्यापक ने पढ़ाया-क्षमां कुरु । सब विद्यार्थियों ने इन शब्दों को सुना और उन्हें याद कर लिया । सभी विद्यार्थियों में युधिष्ठिर बड़े थे । वे भी इस वाक्य को याद करने लगे । थोड़े समय बाद अध्यापक ने पूछा-क्या सबको पाठ याद हो गया है ? सभी विद्यार्थियों ने कहा-गुरुदेव, याद हो गया है, लेकिन युधिष्ठिर कुछ नहीं बोले । उनसे पूछा गया-क्या तुम्हें पाठ याद नहीं हुआ है ? वे बोले-याद कर रहा हूं । थोड़ी देर बाद अध्यापक ने फिर वही प्रश्न पूछा और युधिष्ठिर ने फिर वही उत्तर दिया । इस तरह तीन

दिन निकल गये । अध्यापक ने पूछा-अब तो याद हो गया ? युधिष्ठिर ने कहा-कुछ-कुछ हुआ है । अध्यापक को क्रोध आ गया कि इतना छोटा सा पाठ भी इतने दिन तक पूरा याद नहीं हो रहा है । उन्होंने कसकर युधिष्ठिर के गाल पर एक थप्पड़ लगा दिया । फिर पूछा-अब याद हुआ ? युधिष्ठिर ने मुस्कराकर कहा-अब कुछ-कुछ हो रहा है । अध्यापक को उनकी मुस्कराहट देखकर आश्चर्य हुआ, वे बोले-क्या तुम्हारे थप्पड़ लगती नहीं है, हंस कैसे रहे हो ? जब थप्पड़ खा लेने के बाद भी युधिष्ठिर के मन में अध्यापक के प्रति कोई ग्लानि नहीं हुई, कोई रोष नहीं आया तथा मन में कोई उथल-पुथल नहीं हुई तो उन्होंने उत्तर दिया-गुरु-देव, अब मुझे पाठ भली-भांति याद हो गया है । शब्द की दृष्टि से तो क्षमां कुरु मुझे एक मिनट में ही याद हो गया था, किन्तु मैं सोच रहा था कि इन शब्दों के अर्थ को अपने जीवन में घटित कर दूँ, तभी कह सकता हूँ कि मुझे पाठ याद हो गया । मैं अपने अन्दर के कोलाहल को शान्त कर रहा था और जब आपने थप्पड़ लगाया तो मुझे अनुभव हुआ कि क्षमां कुरु का पाठ मेरे जीवन में कार्यान्वित हो गया है-आत्मा में उतर गया है ।

अब सोचिये कि क्षमायाचना का प्रसंग संवत्सरी महापर्व के अवसर पर कैसे उपस्थित किया जाय ? इस विषय पर मैं बोल रहा हूँ, लेकिन जितना बोलना सरल है, उतना इसी बोलने को जीवन के व्यवहार में ढाल लेना सरल नहीं है । लेकिन अच्छी बात यही होती है कि जो क्षमा के शब्द आपने अपने मुंह से निकाले हैं, वे भविष्य के व्यवहार में उतरने चाहियें । निरर्थक शब्दों का कोई महत्त्व नहीं होता है-यह याद रखें ।

## मृगावती की अपूर्व क्षमा-भावना और ज्ञान का अनन्त प्रकाश:

मृगावती एक सम्राट की महारानी थी, जिसने महावीर प्रभु के उद्बोधक शब्द सुने, वे शब्द उसकी आत्मा के भीतर तक पहुंचे और उसने अन्दर चुप्पी साधी । महारानी ने सोचा-मैं इस अमूल्य मानव जीवन को इन पांच इन्द्रियों के विषयों के पोषण में-कोलाहल में व्यतीत कर रही हूँ, यह मेरा स्वभाव नहीं है । महारानी ने अपनी आत्मा के स्वभाव को समझा तो विभाव की आदत को बदलने लगी । महावीर की वाणी सुनने के बाद उसने साम्राज्य के वैभव का अहं छोड़ दिया तथा वे नम्र बन गई । मन और इन्द्रियों को उन्होंने जड़ तत्वों की आसक्ति से बाहर निकाल लिया तथा महावीर के इस सन्देश पर गंभीरता से वे विचार करने लगीं कि- **समयं, गोयम,मा पमायए ।**

जीवन में समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये । अप्रमत्त भावना से जब वे अभिभूत बन गई तो उन्होंने एक झटके के साथ नाक के श्लेष्म की तरह संसार की सारी मोह माया का परित्याग कर दिया तथा दीक्षा अंगीकार कर ली । जो हजारों मनुष्यों का सत्कार झेलती थीं, वही महारानी साध्वी जीवन को अंगीकार करके संघ की सेवा और आत्म-साधना के मार्ग पर चल पड़ी ।

एक बार भगवान् महावीर के समवशरण में अपनी गुरुआणी चन्दनबाला जी व अन्य सतियों के साथ साध्वी मृगावती भी बैठी हुई थीं । देशना समाप्त हो जाने पर चन्दनबाला जी उठ कर चल दी और सोचा कि पीछे-पीछे सभी शिष्याएं चली आवेंगी । साध्वी मृगावती की उस समय कुछ विचित्र स्थिति थी । एक तो भगवान् महावीर के समीप में वे भावाभिभूत हो गई थीं तथा दूसरे उत्तर वैक्रिय नहीं धारण करके देव मूल स्थिति में पहुंचे जिससे चारों ओर दिव्य प्रकाश की स्थिति बन गई तो मृगावती को यही ख्याल में रहा कि अभी तो बहुत दिन है । अज्ञातचित -सी बनी रह जाने से उसको चन्दनबाला जी आदि के चले जाने का भी ध्यान नहीं आया । देव वहां से गये तो सहसा उन्हें ध्यान आया और वे शीघ्रता से अपने स्थान पर पहुंच गईं । तब चन्दनबाला जी ने उपालंभ दिया और प्रायश्चित्त लेने को कहा । मृगावती हृदय से क्षमा मांगने लगी ।

मृगावती ने क्षमा किससे मांगी ? चन्दनबाला जी से । उन्होंने शब्द और भावना दोनों दृष्टियों से क्षमा मांगी । उनकी क्षमा भावना अपूर्व स्थिति की थी । फिर प्रतिक्रमण करके सभी सतियां शयन करने चली गईं । मृगावती ने भी प्रतिक्रमण किया-अपूर्व क्षमा भावना से उनका अन्दर-बाहर ओत-प्रोत हो रहा था । वे अपने मन को सावधान बना रही थीं और नम्रता से विगलित हो रही थीं कि उनकी गलती से गुरुआणी जी को कष्ट हुआ । उन्होंने मुंह से शब्द कम बोले लेकिन भीतर ही भीतर भावना की उच्च श्रेणियों में क्षमा याचना चलती रही । और जो अन्दर से क्षमायाचना की जाती है भावना के साथ, वही सच्ची क्षमायाचना होती है ।

भावना का शुभ-प्रवाह अपूर्व निष्ठा के साथ इस तरह उन्नत बनता गया कि वह अपनी शुभता के उच्चतम बिन्दु तक पहुंच गईं और साध्वी मृगावती जी को सोते-सोते ही केवल दर्शन और केवल ज्ञान की उपलब्धि हो गई । उस उच्चतम अवस्था में उनके लिये चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल गया । सत्य और ज्ञान का शुभ प्रकाश उनकी आत्मा को आवृत कर गया तो उनके लिये

सारे वातावरण को भी प्रकाशित बना गया । क्षमा याचना की अपूर्व भावना से ज्ञान के अनन्त प्रकाश में वे रमण करने लगीं । अब उनको कुछ भी समझने की आवश्यकता नहीं थी । वे शुद्ध, बुद्ध और परमानन्द की अवस्था में पहुँच गईं ।

उस स्थान पर सर्वथा अंधकार था । चन्दनबाला जी और सभी सतियां निद्राधीन थीं । केवल मृगावती जी जाग रही थी और जाग क्या रही थीं-अपने अनन्त ज्ञान के प्रकाश में समस्त लोक को हस्तामलकवत् देख रही थीं । तभी उन्होंने क्या देखा कि एक विषधर काला सर्प चन्दनबालाजी के हाथ की तरफ बढ़ता हुआ चला आ रहा था । वे उठीं और धीरे से उन्होंने चन्दनबाला जी के हाथ को सर्प के मार्ग में से हटा दिया । लेकिन चन्दनबाला जी भी सतत जागृत केवल द्रव्य निद्रा में थीं, उस स्पर्श से वे उठ गईं और पूछा कौन? उत्तर मिला-मैं आपकी शिष्या मृगावती । एक विषधर सर्प आपके हाथ की तरफ बढ़ रहा था, इस कारण मैंने आपका हाथ हटाया था । मृगावती जी की नम्रता उच्चतम ज्ञान की उपलब्धि के साथ और अधिक बढ़ गई थी, जबकि केवल ज्ञानी हो जाने की अवस्था में उनका पद गुरुआणी जी से ऊपर हो गया था । वास्तव में ज्ञान बढ़े तो जीवन की श्रेष्ठता बढ़नी चाहिये ।

चन्दनबाला जी ने आश्चर्य के साथ पूछा-जब इतना गहरा अंधकार छाया हुआ है तो तुमको सर्प कैसे दीख गया ? क्या उत्तर दिया मृगावती जी ने-आपकी कृपा दृष्टि से । यह नहीं कहा कि मुझे सर्वोच्च ज्ञान हो गया है । अरे, क्या केवल ज्ञान तो नहीं हो गया ? चन्दनबाला जी ने पूछा । फिर भी उन्होंने यही उत्तर दिया-आपकी कृपा दृष्टि हो तो केवल ज्ञान में क्यों कमी रहे ? मृगावती जी के विनय का आचरण अद्भुत था । इधर चन्दनबाला जी सोचने लगीं कि मैंने ऐसी श्रेष्ठ आत्मा को उपालंभ दिया जिससे उसने तो क्षमा भावना आत्मसात् करली, किन्तु मैंने शायद क्षमा भावना की पूर्णता प्राप्त नहीं की । उनकी शुभ भावना की श्रेणी क्षमाभावना की नम्रता के साथ समुन्नत होती गई और उन्हें भी केवल ज्ञान प्राप्त हो गया । अपूर्व क्षमा भावना का प्रभाव अनुपम होता है ।

अहं वृत्ति का त्याग करेंगे,  
तभी क्षमा-भावना प्रबल होगी :

क्षमा भावना की विपरीत वृत्ति अहंवृत्ति होती है । यह अहं वृत्ति भला-बुरा नहीं देखती, सिर्फ अपनी टेक रखना चाहती है । अपनी गलती को वह गलती नहीं मानती बल्कि गलती को गलती जानते हुए भी उसको सही साबित करना चाहती है । यह अहं वृत्ति गलत धारणाओं पर चलती है और मनुष्य को नम्र बनने से रोकती है । अहं-वृत्ति का त्याग करेंगे तभी क्षमाभावना प्रबल होगी । एक क्षमावान् शान्त हृदय से शब्दों को सुनता है और उनका सार ग्रहण कर लेता है ।

एक सम्राट था । उसके प्रधान ने एक दिन कहा कि आम्ब्रवन में चलना है क्योंकि वहां महात्मा बुद्ध पधारे हुए हैं । सम्राट ने पूछा- क्या अपने दोनों अकेले ही चलें या अंगरक्षकों को साथ में ले लें ? प्रधान ने कहा-एक महात्मा के दर्शन करने के लिये जा रहे हैं, अंगरक्षकों की क्या जरूरत है ? दोनों चल पड़े । आम्ब्रवन में दोनों प्रविष्ट हुए तो उनको लगा कि वातावरण बड़ा सुनसान है । नाम सम्राट का अजातशत्रु था, लेकिन कहीं कोई शत्रु न हो इस ख्याल से उन्होंने अपनी तलवार निकाल ली और उसे प्रधान की तरफ खींच कर बोले-बताओं तुम्हारा कोई षडयन्त्र तो नहीं है ? प्रधान ने शान्ति के साथ कहा-आप तो आगे चलिये । आगे चलने पर एक व्यक्ति के शब्द सुनाई दिये, तब प्रधान ने कहा-जहां अहं-वृत्ति का समर्पण हो जाता है, वहां ज्ञान के शब्द सभी सुनते हैं और शान्ति से सुनते हैं । यहां देखिये, हजारों आदमी हैं, सभी सुन रहे हैं-केवल महात्मा बुद्ध बोल रहे हैं । अजातशत्रु अपने व्यवहार पर लज्जित-से हुए । क्षमा-भावना तब तक पल्लवित नहीं होती जब तक किसी भी व्यक्ति की अहं-वृत्ति समाप्त नहीं हो जाती है ।

आज यहां कई बड़े-2 शहरों के तथा गांवों के भी संघ आये हैं । क्षमायाचना का प्रसंग चल रहा है । इन गांवों के संघों को भी मैं छोटा नहीं मानता हूं । पांचू को आप गांव समझते हैं लेकिन संघ की दृष्टि से बहुत बड़ा है । वहां के लोगों में जो मधुर भावना है, उसका मुझे अनुभव है । वहां के किसान परिवारों में भी बड़ी मधुरता है । त्याग प्रत्याख्यान करने में भी वे आगे रहते हैं ।

मैं तो आप सभी लोगों से कहता हूं कि क्षमायाचना की दृष्टि से जो कुछ शब्दावली है, उस शब्दावली का उच्चारण करने के साथ-साथ अन्तःकरण के भावों की दिशा को भी एक नया उन्नतिशील मोड़ दें । अन्दर जो कोलाहल है, वह बाहर निकल जाना चाहिये । अन्दर की भीड़ हट जाय और शान्ति आ जाय । आप इतना ही कीजिये कि भीड़ का रास्ता बदल दें । यह भीड़ कौनसी है ? आप समझे या नहीं ? आपके शरीर-मोह की भीड़, आपके मन में उठनेवाले विचारों की भीड़ । उस अन्दर की भीड़ को अपने

सामने से गुजरने दीजिये-उसकी दिशा को मोड़ दीजिये । देखिये कि मन से ठुकराये हुए कौन-कौन बाहर आ रहे हैं ? यह मोह राजा, ये विकार, यह अहंकार, यह माया-सब बाहर निकल जायेंगे, और आपकी क्षमा-भावना प्रबल बन जायगी ।

विकारी वृत्तियों को त्यागने में और क्षमा-भावना को अपनाने में शब्दों के उच्चारण की ज्यादा जरूरत नहीं है-अन्तःकरण की भावनाओं को आन्दोलित करने की आवश्यकता होती है । प्रतिक्रमण करें तो भीतर-ही-भीतर पापों के प्रति ग्लानि हो और भावना की उच्चतर श्रेणी में पापों का त्याग कर दिया जाय । एक बार पापों को शनैः शनैः छोड़ने लगे तो फिर प्रायश्चित्त का अवसर नहीं रहेगा । तब अन्तःकरण सावधान बन जायगा और सावधानी की अवस्था में स्खलित होने की आशंका नहीं रहती है । उस समय सतत जाग्रति की अवस्था बन जाती है ।

जागृति की अवस्था में ही सच्ची क्षमायाचना का प्रसंग बनता है । ऐसी क्षमायाचना सबको सीखनी चाहिये और मृदु भावना का निर्माण करना चाहिये । यह क्षमा भी एक महान् तप है और तपने पर ही तप सिद्ध होता है । अतः क्षमा की वृत्ति भी अभ्यास से पनपेगी ।

गंगाशहर- भीनासर

दि.21-8-77

## आत्मा-परमात्मा की एकता

*जीवन का लक्ष्य क्या है? वह लक्ष्य है आत्मा-परमात्मा की एकता का। परमात्मा कोई पृथक् तत्त्व नहीं। इसी आत्मा का परम स्वरूप है। आत्मा अपनी सम्पूर्ण स्वरूप शुद्धि कर लेने पर परमात्मा बन जाती है। संसारी आत्मा आठ कर्मों से मुक्त होती है।*

*अगर भाई-भाई में फूट पड़ जाय तो उसे प्रेम और एकता में बदल देनी चाहिए। परिवार में, समाज में, और राष्ट्र के बीच में कोई भेद पड़ता हो तो उसे मिटाने की चेष्टा करनी चाहिए। सभी क्षेत्रों में एकता स्थापित करने का जो विचार आता है, वह विशिष्ट व्यक्तियों की विचार धाराओं की देन है।*

*अपने स्वरूप और प्रभु के स्वरूप में जो अन्तर है, उसे शीघ्र ही दूर किया जाना चाहिए। वासनाओं से साधना खंडित होती है और साधक का पतन होता है। साधना के क्षेत्र में क्रियाशील बन जाने के बाद भी यदि साधक का मन वासनाओं से ग्रस्त रहता है तो साधना का कोई अर्थ नहीं रहता। साधना से ही व्यक्ति ऊपर उठता है, मगर उसकी साधना निर्मल और पवित्र होनी चाहिए।*

*आषाढ मुनि एक साधक थे। वे साधना तो करते थे, मगर उनकी साधना के पीछे वासना का पुट रहता था। सब कुछ त्यागने के बाद भी आत्म-परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता था। वे एक सद् गृहस्थ से आहार (गोचरी) में लड़्डू लाये थे, लड़्डूओं के प्रति उनकी लालसा बढ़ गई। बार-बार वेश बदलकर तीन-चार बार लड़्डू लाते रहे। स्वाद के पीछे पागल होने से उनकी साधना त्रुटिपूर्ण हो जाती थी, वे अपनी साधना के लक्ष्य से भटक रहे थे। यह देखकर गुरु ने पूछा-क्या सभी लड़्डू एक ही घर से लाये हो, उन्होंने सच-सच सारी बातें बता दी गुरु समझ गये कि इस साधक का मन वासना से लिप्त है। इसीलिए यह साधना करता हुआ भी भटक रहा है। साधना बिना किसी लोभ-लालच के होनी चाहिए।*

पद्म प्रभु जिन तुम मुझ आंतरं रे.....

यह मानव जीवन इस सृष्टि के पवित्रतम तत्त्व की खोज के लिये प्राप्त हुआ है । इसलिये इस जीवन में जो करने योग्य कार्य हैं, वे ही किये जाने चाहिये । अन्य निरर्थक कार्यों में न उलझ कर यदि करणीय कार्य कर लिये तो जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे । जो अपने जीवन में जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लेता है, उसका जीवन सार्थक और सफल हो जाता है ।

जीवन का वह लक्ष्य क्या है ? वह लक्ष्य है आत्मा-परमात्मा की एकता । सामान्य व्यक्ति इस लक्ष्य को सुनकर आश्चर्य कर सकता है क्योंकि परमात्मा के तत्त्व को कई लोग आत्मा से पृथक् भी मानते हैं तो उसे सृष्टि का कर्ता भी मानते हैं, लेकिन महावीर प्रभु ने अपने अनुभव के साथ उस समय साहसपूर्वक घोषणा की थी कि परमात्मा कोई पृथक् तत्त्व नहीं, इसी आत्मा का परम स्वरूप होता है अर्थात् यही आत्मा अपनी सम्पूर्ण स्वरूप-शुद्धि कर लेने पर परमात्मा बन जाती है ।

आत्मा-परमात्मा की एकता का क्या अर्थ है ? अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से दोनों आत्माओं में यों ही एकता होती है, लेकिन दोनों के बीच में वर्तमान में शुद्धा-शुद्धि की दृष्टि से जो अन्तर है, एक साधक यही प्रार्थना करता है कि इस अन्तर को मैं कैसे दूर करूं ? संसारी आत्मा आठ कर्मों से मुक्त होती है और वह संलज्जता उसकी अशुद्धि की कारणभूत है, जहां सिद्धात्मा कर्महीन होकर परम शुद्ध रूप में ज्योति के समान विराजमान होती है । इन दोनों स्वरूपों के बीच के अन्तर को कर्म-बन्धनों को तोड़कर मिटाया जा सकता है और साधक की सदा यह अन्तर मिटाने की ही भावना रहती है । प्रार्थना में ये ही भाव व्यक्त किये गये हैं-

पदम प्रभु जिन तुज मुझ आंतरू रे,  
किम भांजे भगवन्त ?  
कर्म विपाक कारण जोइने रे,  
कोई कहे मतिमन्त ।

इस आत्मा-परमात्मा के स्वरूप अन्तर का मुख्य कारण कर्म विपाक बताया गया है और कर्म विपाक को तोड़कर ही आत्मा-परमात्मा की एकता स्थापित की जा सकती है ।

एकता की छोटी-मोटी दृष्टियां,  
प्रधान दृष्टिकोण का अभाव :

आज के युग में मानव एकता की स्थिति को बनाये रखने के लिये विविध प्रयत्न करता रहता है । सोचता है कि भाई -भाई के बीच में अगर कोई विभेद या फूट है तो उसको एकता में बदल देनी चाहिये । परिवार तथा समाज में किसी रूप में अलगाव हो गया हो तो उसे दूर कर दिया जावे तथा उन सम्बन्धों को एकता पर आधारित बना लिया जावे । समाज और राष्ट्र के बीच में भी विभेद आया हो तो उसे भी मिटाने की चेष्टा की जाये । लेकिन प्रत्यक्ष रूप से एकता के प्रधान दृष्टिकोण का साधारणतया अभाव-सा दिखाई देता है । इन सब तरह की एकताओं का विचार आने के साथ-साथ आत्मा-परमात्मा की एकता पर अधिकांश लोगों के मन मस्तिष्क में न तो विचार आता है और विचार आ भी गया तो उसको प्राप्त करने के सम्बन्ध में क्रियाशील चरण कम ही उठते हैं ।

किन्तु यह अनुभव की वस्तुस्थिति है कि इन सब क्षेत्रों में भी एकता कायम करने का जो विचार आता है, उस विचार की प्रेरणा कहां से फूटती है ? दीर्घदृष्टि रखने वाले विशिष्ट पुरुषों की भावना जीवन को एक ही धरातल पर संजोने की रहती है । समझते हैं आप कि यह सम-स्वर कहां से प्रस्फुटित हो रहा है ? यह एकता की भावना, आत्मीय समानता की भावना तथा आत्मा-परमात्मा की एकता की भावना हमारी अपनी आत्मा की मूल भावना है जो छोटे-छोटे स्त्रोतों के लिये तो जागृत हो रही है लेकिन अपनी मूल भावना के प्रति उसकी जागृति नहीं हो रही है -यह दशा विचारणीय है । ध्यान रहना चाहिये कि इस मानव जीवन का प्रधान दृष्टिकोण अपनी आत्मा को इसका वास्तविक परम-शुद्ध-स्वरूप दिलाकर परमात्मा के साथ एकता साधने का है । यह एकता इस रूप में होगी कि विशुद्ध बनकर यह आत्म-स्वरूप संसार-सागर से पार होकर सदा-सदा के लिये ज्योति में ज्योति के समान परमात्म स्वरूप में एकीभूत हो जायगा-स्थित और स्थिर हो जायगा ।

निज-स्वरूप की अनुभूति के साथ  
लक्ष्य की ओर गति :

इस आत्मा में जब जागृति की धारा चलती है तथा सामान्य रूप से भी जब अपने निज-स्वरूप का वह आभास पाती है तो फिर वह निष्क्रिय नहीं रहती है । वह सोचती है कि निज-स्वरूप का सामान्य सा आभास भी जब इतना आनन्ददायक होता है तो उसकी अनुभूति कितने महान् आनन्द की प्रदाता होगी ? उसकी चिन्तन धारा में तब उच्चतर कल्पना चलती है कि यदि आत्मा के समग्र

शुद्ध-स्वरूप को प्रकट कर लिया जाय तो उस आनन्द के अनुभव का तो कहना ही क्या ? चिन्तन के इन क्षणों में वह परमात्मा-स्वरूप की तरफ भी अपने दिव्य चक्षुओं से देखने का यत्न करती है और जब परमात्मा का पूर्ण प्रकाश पड़ता है तो मन में छटपटाहट लगती है-आत्मा तिलमिला उठती है । ऐसा क्यों होता है ?

इसलिये कि निज-स्वरूप में और प्रभु के स्वरूप में जो अन्तर है, उसको शीघ्र-से-शीघ्र कैसे दूर किया जाय ? तब वह आत्मा ज्ञानीजनों के समीप में जाकर इस अन्तर को समाप्त करने की विधि का ज्ञान करती है । उसे ज्ञान होता है कि यह अन्तर कर्मों के कारण है । कारणों को जान कर वह उन कारणों को दूर करने का जब सही निष्ठा के साथ प्रयास प्रारम्भ करती हैं, तभी उसकी लक्ष्य की ओर गति होती है । निज-स्वरूप की आन्तरिक अनुभूति एवं स्वरूप-शुद्धि की प्रबल भावना के साथ ही लक्ष्य की ओर गति संभव बनती है ।

अपनी शक्ति एवं लक्ष्य की स्थिति का सन्तुलन करने के बाद ही गति का क्रम आरम्भ होता है-यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है । लक्ष्य परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति का यह आत्मा निर्धारित कर लेती है और उसकी तुलना में अपने स्वरूप की मलीनता का अनुमान लगा लेती है, तब उसका पहला काम यही होता है कि वह अपने संकल्प को मजबूत बनावे और अपनी शक्ति को तौले कि गति आरम्भ करने के सम्बन्ध में किसी प्रकार की मानसिक दुर्बलता तो नहीं है । जब मानसिक भूमिका परिपुष्ट बन जाती है, तब लक्ष्य की दिशा में पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है । आत्मा को यह प्रतीति हो जाती है कि इन कर्मों का उपार्जन मैंने ही किया है और अब इन कर्मों को तोड़ने की शक्ति भी मेरे ही में रही हुई है । वह यह भी समझ जाती है कि जितने अधिक कर्म एकत्रित किये जाते हैं, उतने ही अंशों में मेरा स्वरूप परमात्म-स्वरूप से दूर होता जाता है-परमात्मा तक पहुंचने का लक्ष्य छूट जाता है । कर्म विपाक का यह विज्ञान आत्मा के ध्यान में आ जाता है तो वह शुभ परिणामों को लेकर कर्मों के बंधन को तोड़ने में सक्रिय बन जाती है ।

इसके विपरीत यदि शुभ परिणामों की धारा नहीं फूटती है और अशुभ परिणाम आत्म-स्वरूप पर छाये हुए रहते हैं तो कर्म पैदा करने के निमित्त वाले पदार्थों की भावना ही तीव्र बनी रहती है और ऐसे विभाव में रमण करती हुई आत्मा के स्वरूप वाले व्यक्ति का जीवन भ्रम कल्दाम् में ही उलझा रहता है । बाह्य सुखों की उन कामनाओं से ग्रस्त होकर वह अपने जीवन का हास करता रहता है । कभी-कभी कुछ जागृति के क्षण आते हैं तो वह आत्मा-परमात्मा की भी कुछ बात कर लेता है और फिर अपनी कामना पूर्ति के जाल में पड़ जाता है । कई व्यक्ति तो ऐसे भी होते हैं जो आत्मा परमात्मा की बात दिखावे के लिये अथवा किसी स्वार्थकारी भावना के साथ कर लेते हैं और जड़ पदार्थों की लालसा में ही भटकते रहते हैं । वे सोचते हैं, कि परमात्मा का नाम लेले, भजन करलें तो हमें धन सम्पत्ति मिल जायगी और संसार के सुख प्राप्त हो जायेंगे । अधिकांश व्यक्तियों के मन में आध्यात्मिक क्षेत्र में चलते हुए भी ऐसी लालसा बनी रहती है-चाहे वह स्पष्ट रूप से न दिखाई दे । यह तो एक तरह की सौदेबाजी की भावना होती है । ऐसे लोग ऊपर से तो प्रकट करते हैं कि वे आत्म-शक्ति से साक्षात्कार करने के प्रयास कर रहे हैं लेकिन मन के भीतर ये ही विचार रहते हैं कि जितनी पांच इन्द्रियों की सुख-सुविधा जुट जाय, उतनी जुटालें सो ठीक है । उसके बाद आत्मा के साथ एकीभूत हो जाय तो धन्य बन जायेंगे ।

ऐसी दो मुखी भावना के साथ न तो लक्ष्य स्पष्ट होता है और न लक्ष्य की ओर जाने की गति ही आरम्भ होती है । लक्ष्य एक होता है और गति में निष्ठा बनती है तभी प्रगति का क्रम सुव्यस्थित होता है ।

वासनाओं से मन विरत नहीं होता,  
तो साधना खंडित हो जाती है :

साधना के क्षेत्र में क्रियाशील बन जाने के बाद भी यदि उसका मन वासनाओं से विरत नहीं होता है तथा उसकी पूरी आन्तरिकता के साथ निजस्वरूप की अनुभूति नहीं बनती है तो उसकी ऊंची साधना भी खंडित हो सकती है । लक्ष्य के प्रति स्पष्टता और गति के प्रतिनिष्ठा दोनों साधना की सुरक्षा के लिये आवश्यक होती हैं । उसके लिये यह समझना भी आवश्यक होता है कि आत्मा के साथ कर्मों की सलभता की क्या अवस्था है, संयुक्त कर्मों को किस प्रकार हटाया जा सकता है, कर्मों को पैदा करने की शक्ति कैसे आती है और कैसे कर्मों को हटाने का पुरुषार्थ सफल बनाया जा सकता है? कर्म विपाक का ज्ञान भली प्रकार कर लिया जाता है तथा वासनाओं से मन को विरत बना लिया जाता है तो साधना में एकाग्रता एवं स्थिरता जम जाती है । यदि वह ऐसा नहीं कर

पाता है और एकता में भी अनेकता पैदा करता रहता है तो उससे उसकी ऊंची साधना भी दूषित हो जाती है-खंडित हो जाती है ।

यहाँ तक की दीर्घकाल की साधना के बल पर ऋषि महर्षि बन गये लेकिन जब वासनाओं का अन्धड़ आया और उसमें वे उखड़ गये तो उनकी सम्पूर्ण साधना भ्रष्ट हो गई । ऋषि विश्वामित्र और मेनका का प्रसंग आपके ध्यान में होगा ही । ऐसा ही एक प्रसंग आषाढभूति का है ।

आषाढभूति नाम के एक साधक थे । उनकी आकांक्षा परमात्मा पद प्राप्त करने की थी, लेकिन वे आत्म-स्वरूप को भलीभांति नहीं समझे । दीर्घ समय तक वे साधना करते रहे लेकिन उस साधना के पीछे वासना का पुट चलता रहा । वे साधु बने थे-सोचने लगे कि मैंने सांसारिक पदार्थों का त्याग किया और इतना समय हो गया फिर भी आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो रहा है तो संसार के विषयों की साधना ही मेरे लिये ठीक रहेगी । सही ज्ञान प्राप्त नहीं होता है और ऊंची साधना भी कर ली जाती है तो उस साधना में स्थायित्व का भरोसा नहीं होता है । आषाढभूति भिक्षा के लिये एक बार शहर में गये । जैसे कि साधु को विवेकपूर्वक ईर्या, भाषा व एषणा का ध्यान रखना चाहिये, उतना विवेक उनमें नहीं था । वे भिक्षा लेने एक विश्वकर्मा नाम के नट के घर में प्रविष्ट हो गये । नट ने उनका स्वागत किया, कारण उसके ध्यान में था कि ऐसे महात्मा को दान देने से लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं । अन्य आहार के साथ सुगन्धित पदार्थों से बना एक मोदक(लड्डू) भी उसने मुनि को बेहरा दिया । उस मोदक की सुगन्ध उनको बड़ी आकर्षक लगी । वापिस जाते-जाते सोचने लगे कि एक मोदक मैं गुरु के सामने रखूंगा तो मुझे हिस्सा मिले या नहीं । और मोदक इसी घर से मिल सकता है लेकिन मर्यादा के कारण मैं वापिस नहीं जा सकता हूँ । मुझे वैक्रिय लब्धि प्राप्त है सो रूप परिवर्तन करके पुनः इसी घर में चला जाऊँ । आकृति बदल कर वे पुनः विश्वकर्मा के घर में भिक्षा हेतु चले गये । नट भी चतुर था-समझ गया कि साधु तो वही है, लेकिन है करामाती । फिर भी उसने एक लड्डू और बेहरा दिया । वापिस जाते हुए फिर विचार आया कि यह लड्डू उपाध्याय मुनि के काम आ जायगा, मैं तो फिर भी बिना लड्डू खाये ही रह जाऊँगा । अतः रूप परिवर्तन करके आषाढभूति तीसरी बार नट के घर चले गये । समझते हुए भी नट ने फिर लड्डू बेहरा दिया और वह जान गया कि यह साधु लड्डू के लिये ही बार-बार आ रहा है । फिर उसके मन में आया कि यह तीसरा लड्डू तपस्वी मुनिजी लेंगे तो मेरा हाल तो वैसा का वैसा ही रह जायगा । इसलिए चौथी बार आकृति बदल कर वे फिर नट के घर पहुंच गये ।

विश्वकर्मा नट को तब विचार आया कि यह साधु साधना के पीछे नहीं है और स्वाद के पीछे पड़ा हुआ है और खाने को लालायित है तो क्यों नहीं इसको मैं अपने धनोपार्जन का साधन बना लूँ ? उस नट के दो सुन्दर कुवारी कन्याएं थी, उनको उसने कहा-देखो, यह साधु मोदक के लिये तीन बार तो आ चुका है और अब रूप बदल कर चौथी बार आ रहा है और यह शरीर के रूप बदल लेता है सो करामाती भी है । तुम इसको प्रसन्न करके पति बनालो तो बहुत सुख भोगोगी । बार-बार रूप बदल कर जब यह लोगों को नृत्य दिखायगा तो अपने को भारी आमदनी भी होगी । इस तरह उसने अग्रिम रूप से दोनों युवा रूपवती पुत्रियों को संकेत कर दिया ।

अब चौथी बार आषाढभूति मुनि जब नट के घर में प्रविष्ट हुए तो उन लड़कियों ने उनके सामने ऐसे हाव भाव दिखाए कि वे उनकी तरफ आकर्षित हो गये । हां, उन्होंने इतना जरूर कहा कि एक बार मैं अपने गुरुजी से पूछकर वापिस आऊंगा । इतना कह कर वे गुरु जी के पास पहुंचे और उनके सामने चार लड्डू रख दिये । गुरु ने पूछा-ये चारों लड्डू क्या एक ही घर से लाये हो ? आषाढभूति ने सही-सही बात बतादी कि वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करके वह लड्डू लाया है । गुरु समझ गये कि इसका मन वासनाओं में लिप्त है । उसने यह भी कह दिया कि नट की दोनों कन्याओं के साथ भी सम्बन्ध का प्रसंग जुड़ रहा है । यह सुनकर गुरु ने काफी समझाया कि यहां तुम हाथी पर बैठे हो, गधे की सवारी करने के लिये क्यों जा रहे हो ? नहीं मानने पर गुरु ने इतना ही कहा-जा ही रहा है तो एक प्रण तो करके जा कि तू मद्य-मांस का सेवन नहीं करेगा और करने वालों के साथ सम्बन्ध भी नहीं रखेगा । क्योंकि उस घर में इसका प्रयोग होता होगा । आषाढभूति ने त्याग ले लिया कि मैं स्वयं मद्य-मांस सेवन नहीं करूंगा तथा मद्य-मांस सेवन करने वाले के साथ सम्बन्ध नहीं रखूंगा और इस त्याग का दृढ़ता से पालन करूंगा ।

आषाढभूति साधु वेश त्याग कर नट के यहां चला गया तथा उसने अपना प्रण बताते हुए दोनों लड़कियों के साथ शादी करली । एक बार एक सम्राट के यहां नृत्य दिखाने की दृष्टि से आषाढभूति दूसरे नगर की तरफ गया । पीछे से दोनों लड़कियों ने सोचा कि इनकी वजह से मद्य-मांस का सेवन किये लम्बा अर्सा हो गया है और वे बाहर से देर से लौटेंगे-यह सोचकर उन दोनों ने मद्य-



मांस का ख़ूब सेवन किया और बेभान होकर पड़ गई । उधर सम्राट के यहां किसी की मृत्यु हो जाने से कार्यक्रम स्थगित हो गया अतः आषाढभूति तुरन्त लौट आया । आकर उसने दोनों स्त्रियों की वह दशा देखी तो उसका मन घृणा से भरा उठा ।

अब वह चिन्तन करने लगा-मैंने इनके लिये अपनी पवित्र साधना की मिट्टी कर दी, लेकिन ये अपने प्रण को भी नहीं निबाह सकीं । मैंने अपनी आत्मा को किस गटर में डाल दी? अब मुझे सावधान हो जाना चाहिये । विश्वकर्मा भी आषाढभूति की आकृति देखकर पश्चात्ताप करने लगा कि लड़कियों ने कैसी गलती कर दी ? तब विश्वकर्मा ने क्षमा मांगी लेकिन वह नहीं माना । फिर उसने अपनी लड़कियों के लिये कुछ सम्पत्ति एकत्रित करके जाने को कहा ताकि उनका निर्वाह हो सके । तब सम्राट के समक्ष एक नृत्य नाटिका का कार्यक्रम रखा गया । उसमें भरत चक्रवर्ती का विदायी दृश्य दिखाया गया । उस दृश्य के साथ-साथ आषाढभूति के मन में ग्लानि, आत्मालोचना तथा आत्म-शुद्धि की ऐसी पवित्र विचार धारा फूटी कि भीतर की एकता सध गई । भरत की तरह ही उन्होंने एक-एक वस्त्राभूषण उतारे तथा सचमुच में मुनिवेश पुनः अंगीकार कर लिया । बाद में उन्होंने अपने जीवन को आदर्श मय बना लिया ।

वासना बड़े से बड़े साधक को भी पतित बना देती है । इसलिये साधना को अखंड बनाये रखने के लिये वासनाओं से मन को पूर्णतः विरत बना लेना चाहिये ।

## आत्मा-परमात्मा की एकता के लिए बीच की दूरी समाप्त होनी चाहिए :

मैं कह रहा था कि आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी कैसे बढ़ती है और कैसे घटती है-इस का यह आषाढभूति का रूपक है । वासना में गिरने का योग था तो साधना को खंडित बना ली और वापिस चेतना जागी तो साधना की उच्चता पर पहुंच कर उस दूरी को समाप्त ही कर दी । कर्मों की दशा ही प्रगति अथवा विगति की कारणभूत होती है । कर्मों के बंधनों को तोड़ देने पर ही आत्मा और परमात्मा की एकता स्थापित हो सकती है । इसका अर्थ ही यह होता है कि दोनों स्वरूपों के बीच की दूरी समाप्त हो गई है और दोनों स्वरूप एकीभूत हो गये हैं । आत्मा ही अपने स्वरूप को परम बनाकर परमात्मा बन जाती है ।

मैं आपके समक्ष परमात्मा से प्रार्थना कर रहा था और यह संकेत देना चाहता था कि आप और हम एक ही लक्ष्य को लेकर चलते हैं । यह लक्ष्य इस रूप में है कि अपने आत्म-स्वरूप और परमात्म-स्वरूप के बीच में जो विशुद्धता सम्बन्धी दूरी है उसको दूर करें । लेकिन सोचने की बात यह है कि उसको दूर करने की हमारी तैयारी क्या है ? क्या इन सांसारिक पदार्थों का परित्याग करने के लिये आप तैयार हैं ? मोह और लालसा को छोड़ने की तत्परता है ? आपकी वृत्तियां किस दिशा में चल रही हैं-इसका लेखा- जोखा आप ही लें । क्या वे त्याग की तरफ बढ़ रही हैं अथवा भोग में ही लिप्त हो रही हैं ? यह अपने अन्तःकरण को जांचने-परखने का प्रसंग है । जो अपने आत्म-स्वरूप को पहिचानता है तथा आत्मालोचना द्वारा स्वरूप-शुद्धि करता रहता है, वही इस मार्ग पर अग्रसर बन सकता है । प्रारंभ में साधना की स्थिति कठिन मालूम होती है, लेकिन जब उसमें अभ्यस्तता बन जाती है तो सावधानी से चलते हुए साधना की सफलता भी प्राप्त की जा सकती है ।

आत्मा और परमात्मा की एकता की साधना थोड़ी कठिन साधना अवश्य है लेकिन रसदार और वह भी खंडित रसवाली नहीं, अखंडित रसवाली साधना होती है । एकता के रस के साथ आत्मा का संयोग जुड़ता है तो वह एकता का सूत्र भी बन जाता है ।

## एक साधक

### निरन्तर परमात्मा के समीप जाता रहे :

सच्ची साधना की कसौटी ही यह होती है कि एक साधक निरन्तर परमात्मा के समीप जाता रहे और इस समीप जाते रहने की क्रिया का निर्णायक कोई अन्य नहीं होगा बल्कि उसकी अपनी आत्मानुभूति ही इतनी प्रखर बन जानी चाहिये कि वह हर समय निर्णायक का कार्य करती रहे ।

जैसे एक व्यक्ति कपड़े को धोता है तो उसे उतनी ही बार धोता है अथवा वैसी ही सामग्री का प्रयोग करता है, जिस रूप में मैल उस कपड़े पर चढ़ा हुआ हो । एक बार साबुन या सोडे का प्रयोग किया और धो लिया, तब वह कपड़े को खोलकर देखता है कि मैल कितना और कैसा हटा है । उसको समझ में आता है कि कपड़े पर अभी भी काफी मैल है तो वह अधिक उग्र सामग्री का प्रयोग करता है । पुनः पुनः निरीक्षण की आवश्यकता इस लिये होती है कि वह उस कपड़े को पूर्ण रूप से स्वच्छ बना लेना चाहता है ।

इसी रूप में एक साधक को बार-बार आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है, यह देखने के लिये कि उसकी साधना और तपाराधना के फलस्वरूप कितने कर्मों का क्षयोपशम हुआ है तथा आत्म-स्वरूप की कितनी मलीनता दूर हुई है ? यह साधक का ही आत्म-निर्णय होता है कि उस मलीनता को पूर्ण रूप से धो देने के लिये अभी ओर क्या करना है ?

यह आत्म-निरीक्षण, आत्मालोचना, आत्म-निर्णय, की प्रक्रिया जब निरंतर चलती रहती है तो आत्मा की उज्वलता निरन्तर निखरती रहती है । यह प्रक्रिया परमात्मा के समीप में जाने की प्रक्रिया होती है । आत्मा का पहले मलीन स्वरूप होता है, फिर उसको साधना और तप से धोया जाता है तब वह उज्वल होने लगता है तथा उस उज्वल के साथ आत्मिक गुणों का श्रेष्ठ सामंजस्य हो जाता है तो वह उज्वल स्वरूप परम-पद को प्राप्त कर लेता है । इस रूप में अपने जीवन का श्रेष्ठ निर्माण करने की ओर प्रगति करना ही परमात्मा की उपासना होती है ।

## आध्यात्मिक एकता से आत्मा- परमात्मा की एकता :

सरदारशहर वाले भाई नेमिचन्द्र जी ने भजन सुनाया । मैं सुझाव देता हूँ कि मेरे लिये कुछ कहने की बजाय वे अपनी बौद्धिक-शक्ति का प्रयोग पूर्व के महापुरुषों के गुणगान में करें । मैं तो नाना (छोटा) हूँ और नाना क्या कहे ? वह अपनी विधि से ही कहेगा । महापुरुषों की विधि से कैसे कहेगा ? मैं एक साधक की विधि से यही संकेत देना चाहता हूँ कि आप सब लोग आध्यात्मिकता के महत्व को समझें तथा इस क्षेत्र में पूर्ण एकता स्थापित करें । यह आध्यात्मिक एकता आत्मा-परमात्मा की एकता में सहायक बनेगी । इस आध्यात्मिक एकता से सम्बन्धित रहे तो एक दिन परमात्मा के साथ एकता भी प्राप्त कर सकेंगे ।

गंगाशहर-भीनासर

22-8-77

## ये आठ कर्म : आत्मा के रोग

*आत्मा-अपवित्र क्यों बनी। उसकी पवित्र शान्ति वर्तमान अशान्ति में क्यों परिणित हुई। आत्मा को अपवित्र बनाने में कर्मों का संयोग ही कारण है। जब कर्म आत्मा के स्वरूप को घुमिल बना देते हैं तो शान्ति भंग हो जाती है तब जीवन में अशान्ति छा जाती है।*

*अशान्ति का भीषण रोग आत्मा के लिए अशान्ति कारक है। अगर समय पर समुचित निदान नहीं किया जाय तो फिर दूसरे रोग की चिकित्सा नहीं हो सकती है। अशान्ति से आत्मा को भारी वेदना सहनी पड़ती है। नीतिकारों का कहना है कि रोग और शत्रु को कभी बढ़ने नहीं देना चाहिए। एक चिकित्सक रोगी को रोग का कारण बता देता है।*

*आत्मा के रोग और दंड सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। मनुष्य का ध्यान रोग की तरफ जाता है, आत्मा की तरफ नहीं। आत्मा रोगी और अपराधी है। तभी तो वह जेलखाने में पड़ी है। क्या शरीर रूपी कोठरी में यह आत्मा बंधी हुई नहीं है। आत्मा शरीर के साथ ही रहती है।*

*केवल ज्ञानी और तीर्थकरों की आत्माओं में महान शक्ति होती है। शीतकाल में मेथी और सूंठ के लड्डुओं की ताकत 12 मास तक रहती है। मनुष्य भी अफीम की डलियाँ खाता रहता है। अफीम खाने से उसके मुँह की कड़वाहट कैसे दूर होगी। समुचित और माधुर्य युक्त ठीक वस्तु खाने पर कड़वाहट नहीं होती। सामान्य व्यक्तियों की बात तो दूर रही, महावीर जैसे तीर्थकरों को भी बन्धे हुए कर्मों का बदला*

**चुकाना पड़ा। आत्मा की पूर्णता वीतरागता में है। इसीलिए आत्मा के रोग-का निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।**

**पद्म प्रभु जिन तुज मुझ आंतरं रे .....**

आत्मा के सर्व श्रेष्ठ स्वरूप, सर्वथा पवित्र अवस्था एवं सदा सर्वदा के लिये परम शान्ति के रूप को प्राप्त करने के लिये जब एक भव्य प्राणी प्रयत्न करता है तो वह इस लक्ष्य से विपरीत तत्त्वों का भी चिन्तन करता है ।

यह आत्मा अपवित्र क्यों बनी, जिस को अब पवित्र बनाना है ? उसकी पवित्र शान्ति वर्तमान अशान्ति में क्यों परिणित हुई ? उसका मूल और वास्तविक स्वरूप ओझल क्यों हो गया ? इस परिस्थिति का जब अनुसंधान करने का प्रसंग आता है तो ज्ञानीजन उसके सामने स्पष्ट स्थिति एवं श्रेष्ठ मार्ग का निर्देश देते हैं । वे बताते हैं कि आत्मा को अपवित्र बनाने में कर्मों का संयोग ही विशेष रूप से कारण हैं । जब कर्म आत्मा के स्वरूप को धूमिल बनाते हैं तो उसकी शान्ति भंग हो जाती है । उससे उसकी वृत्तियों में तथा जीवन के क्रिया कलापों में अशान्ति छा जाती है । यह अशान्ति आत्मा के लिये महान् रोग-रूप सिद्ध होती है । और जब कोई रोग लग जाता है तो उसका निदान भी आवश्यक होता है तथा उसकी चिकित्सा भी अनिवार्य हो जाती है ।

**अशान्ति का भीषण रोग**

**आत्मा के लिये महान् अशान्तिकारक :**

अशान्ति का भीषण रोग इस आत्मा के लिये महान् अशान्तिकारक होता है । यदि इस रोग का सही निदान नहीं किया जाता है तथा उसके बाद इस रोग की सही चिकित्सा नहीं की जाती है तो भीषण अशान्ति से यह आत्मा भारी वेदना पाती है और उससे अनेकानेक अन्य रोगों को एकत्रित करती हुई सांघातिक रूप से रुग्ण बन जाती है । भयंकर रूप से रोगग्रस्त होकर कभी-कभी आत्मा पुनः स्वस्थ ही नहीं हो पाती है ।

नीतिकारों का कहना है कि रोग और शत्रु को कभी बढ़ने ही नहीं देना चाहिये । रोग का प्रारंभ से ही सम्हाल लेना चाहिये तथा समय रहते हुए उस को समूल नष्ट कर देना चाहिये । यदि आत्मा की रुग्णता बढ़ती रहती है तो जीवन की स्थिति किसी भी प्रकार ठीक नहीं रहती है । शरीर के बाहरी रोगों के लिये तो फिर भी मनुष्य की सावधानी रहती है । किसी किसी अवयव में यदि कोई पीड़ा पैदा हो जाती है तो वह तुरन्त किसी योग्य चिकित्सक के पास में पहुंच जाता है । चिकित्सक भी उसके रोग का विवरण सुनकर या उसके रोग की परीक्षा करके उसको उचित औषधि दे देता है । चिकित्सक अपनी समझ-शक्ति के अनुसार रोग के कारण मालूम करता है और उन कारणों को दूर करने की औषधि देता है । सामान्य रूप से वह रोगी पर उन कारणों को प्रकट नहीं करता है-इसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन एक अच्छा चिकित्सक रोगी को रोग के कारण भी बता देता है, ताकि वह रोगी उन रोग के कारणों को समझने का प्रयत्न करें । वह कारणों के साथ चिकित्सा और पथ्य की विधि भी बता देता है । इस दृष्टि से स्वास्थ्य लाभ करने की अभिलाषा रखनेवाला रोगी उन सबके प्रति सावधन होकर निर्देशानुसार कार्य करता है । इसके विपरीत सब कुछ जानकर भी यदि रोगी बेपरवाही करता है अथवा अपनी जीभ वगैरह को वश में नहीं रख पाता है तो वह अपने स्वास्थ्य को और अधिक बिगाड़ देता है । सु-स्वास्थ्य की सच्ची कामना रखने वाला रोगी उस पदार्थ का कभी भी उपयोग नहीं करेगा, जिस पदार्थ का चिकित्सक निषेध कर देता है और चिकित्सक द्वारा बताये हुए पथ्य का भी नियमित रूप से सेवन करता है । चिकित्सक चिकित्सा अवश्य करता है, लेकिन रोग निवारण और स्वास्थ्य लाभ मुख्यरूप से रोगी की स्वस्थ होने की उत्कट भावना तथा सतर्क वृत्ति पर निर्भर करता है ।

इसी रूप में आत्मा के रोगों की भी स्थिति है । आत्मा के रोगों की रुग्णता को समझना ही पहली कठिन बात होती है । फिर रोग स्थिति को समझ कर उसके कारणों का ज्ञान करना, योग्य चिकित्सक या चिकित्सा-पद्धति की खोज करना, रोग निवारण एवं स्वास्थ्य लाभ की उत्कट भावना होना तथा निर्देशित औषधि व पथ्य का सेवन करना यानी कि शुद्ध आराधना के मार्ग पर साहस एवं पुरुषार्थपूर्वक चलना आगे की कठिन बातें हैं । रोगी आत्मा को ये सब बातें ध्यान में लेनी होती हैं और एकाग्रता पूर्वक रोग निवारण के कठिन प्रयास करने होते हैं ।

**आत्मा के रोग और अपराध**

## उसके फल और दंड :

आत्माएं सारे संसार के अन्दर विद्यमान हैं सब आत्माएं अलग-अलग शरीर धारण करके चल रही हैं । वे सब रोगी हैं अथवा निरोगी हैं इसका निर्णय भी अभी नहीं हो रहा है । ऐसा कभी किसी मनुष्य से पूछ लिया जाय कि आपके जीवन की अवस्था रोगी है या निरोगी-तो क्या उत्तर मिलेगा ? यह कह देंगे कि शरीर की अवस्था से तो निरोगी है । यही चिन्तनीय स्थिति है कि मनुष्य का ध्यान शरीर की तरफ हो जाता है, आत्मा की तरफ नहीं जाता ।

आत्मा रोगी है-अपराधी है इसीलिये तो जेलखाने में पड़ी हैं । क्या आपको जेलखाना मालूम होता है ? कौनसा है जेलखाना ? यह जो शरीर है-यही आत्मा का रोग है, आत्मा का जेलखाना है । जेलखाना क्या होता है ? एक बन्द कोठरी होती है जिस के बाहर आप अपनी इच्छा से नहीं जा सकते हैं । स्वतंत्रता जहां समाप्त हो जाती है, वही जेलखाना कहलाता है । क्या यह आत्मा शरीररूपी कोठरी में बंधी हुई नहीं है ? क्या यह आत्मा अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार विचरण कर सकती है ? यह आत्मा स्वयं स्वतंत्र नहीं है- शरीर के अधीन बनी हुई है । शरीर को छोड़ कर कहीं नहीं जा सकती है । वह शरीर के साथ ही चलती है और सोच नहीं पाती है कि इस जेलखाने में कब तक रहेगी और कितनी जिन्दगियां जेलखाने में ही बितानी पड़ेंगी ? ऐसी भावना उसमें कब जगेगी कि वह जेलखाने में से निकलने का प्रयास करें ? यह भावना भी तब जगती है, जब आत्मा इस शरीर को हकीकत में जेलखाना समझ लेती है । कैदी बनने वाला ही सोचता है कि मैं कैद में क्यों आया ? जैसे रोगी अपने को रोगी मानता है तो रोग की छानबीन करता है, उसी तरह से कैदी भी अपने अपराध का पता चलाता है ।

अपराध भी कई तरह के होते हैं । एक तो साधारण अपराध होता है । एक व्यक्ति ने चलते हुए किसी दूसरे के टक्कर लगादी । उसका इरादा टक्कर लगाने का कतई नहीं था, लेकिन असावधानी से टक्कर लग गई और वह व्यक्ति गिर गया- मामूली चोट आ गई । अब वह व्यक्ति कानूनी कार्य-वाही करावे और उस व्यक्ति को दंड भी मिले तो वह दंड कितना सा होगा ? मामूली दंड ही मिलेगा क्योंकि वह यह सफाई दे देगा कि टक्कर मैंने जान बूझ कर नहीं लगाई । लेकिन जिस व्यक्ति ने गुस्से में आकर दूसरे को धक्का दिया हो और इरादतन चोट पहुंचाई हो तो उसको अधिक दंड मिलेगा । इससे आगे एक व्यक्ति ने दूसरे की गर्दन ही तलवार से उड़ा दी और उसका अपराध प्रमाणित हो गया तो बताइये उसको कितना दंड मिलेगा ? या तो फांसी या आजन्म कारावास । जैसे राज्य के कानून होते हैं, उनके अनुसार अपराधी को दंड दिया जाता है । वैसे ही इस जीवन में मनुष्य की आत्मा द्वारा किये हुए कर्मों का भी फल मिलता है तथा अशुभ कर्मों का दंड इस आत्मा को भोगना पड़ता है ।

एक पुरुष अपने शरीर को लेकर चल रहा है । जब शरीर है तो उसको खाने-पीने के लिये देना ही होगा और खाने-पीने को देंगे तो कुछ हाथ-पैर हिलारेंगे ही, तभी साधन-सामग्री जुटेगी । इस साधन-सामग्री को जुटाने में कुछ न कुछ पाप का सम्बन्ध तो जोड़ेगा ही । शरीर के द्वारा इन सब कार्यों में ऐसी क्रियाएं होंगी जिनसे पाप कर्मों का बंध होगा । यह बंध आत्मा का अपराध भी है और आत्मा का रोग भी है । अपराध किनके प्रति होगा ? छोटे-छोटे प्राणियों के प्रति । रास्ते पर चलते हुए सहसा किसी प्राणी पर पैर गिर गया- गिराने का इरादा नहीं था, ख़ूब सावधानी भी रखी, लेकिन पैर से दबकर छोटा प्राणी मर गया । वह प्राणी कीड़ी-मकोड़ी तो हुआ ही है-तो उसका दण्ड अवश्य मिलेगा । दंड से वह छुटकारा नहीं पा सकता है । यह जो दंड मिलता है, वह कर्मों के बंध एवं फल भोग के माध्यम से मिलता है । पाप करके एक पापी सरकार की निगाह से छिप सकता है, घुंस देकर बच भी सकता है लेकिन कर्मों की निगाह से वह किसी भी तरह नहीं बच सकता है । प्रकृति की दृष्टि से बचना कतई संभव नहीं होता है । जो कर्म बंधेंगे, उनका फल तो भोगना ही होगा । कोई आत्मा जो भी अपराध करेगी, उसका पहला दंड तो उसको यह मिलेगा कि उसके कर्म-बंधन होगा और फिर जब वे बंधे हुए कर्म उदय में आरेंगे तथा जैसा फल वे देंगे, वह फल इस आत्मा को भुगतना ही होगा ।

## कर्म-बंधन के प्रकार :

### फल भोग में आत्मा की विवशता :

एक बार कर्मों का जैसा भी बंधन हो गया है तो उसके फल भोग में कैसी भी आत्मा की साधना हो, उसकी विवशता रहती है । अर्थात् बंधे हुए कर्मों का तो प्रत्येक आत्मा को-चाहे तीर्थंकर की ही आत्मा क्यों न हो-फल भोग लेना ही पड़ेगा । यह कर्म बंधन भी चार तरह का होता है । एक तो प्रकृति के रूप में होता है । प्रकृति का यहां पर तात्पर्य यह है कि जो कर्म आत्म-स्वरूप के साथ संलग्न होते हैं, वे कर्म वर्णना के पुद्गल कहलाते हैं और उन कर्मों के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं । कर्मों के समूह आत्मा के

साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं । कर्म आत्मा के साथ जुड़ते हैं तभी उसके अपराध का क्या किस रूप में दंड मिलेगा-यह निर्धारित हो जाता है । यह प्रश्न उठ सकता है कि जब कर्म बंधा है तो बंध की स्थिति का सारा हिसाब कौन रखता है ? यह हिसाब रखने वाला कर्म बंध का जो प्रकार है, उसको प्रकृति-बंध कहते हैं ?

किसी प्राणी पर असावधानी से पैर लग गया-मन में ऐसी इच्छा नहीं थी, राग-द्वेष की भावना भी नहीं थी, क्रोध, मान, माया लोभ आदि किसी विकार के अधीन होकर भी उसकी हत्या नहीं की, लेकिन फिर भी शरीर की असावधानी से उसके प्राण छूट गये तो उस अपराध का भी कर्म बंधन तो अवश्य होगा- भले वह एक समय में बंधे, दूसरे समय में उदय में आवे तथा तीसरे समय में समाप्त हो जावे । ऐसा प्रसंग केवलियों के साथ आता है । वीतरागदशा में पहुंचे हुए तीर्थंकर भगवान्, जिन को सर्वोच्च दशा प्राप्त हो गई, वह महान् आत्मा भी जब सशरीर थी तो उस समय की उनकी क्रियाओं का भी इस रूप में कर्म-बंध अवश्य होता था । आप सोचेंगे कि केवली भगवान् के कर्म-बंध क्योंकर होगा ? वे सर्वज्ञानी होते हैं और ज्ञान के प्रकाश में विचरण करते हैं फिर भी जड़ के स्वभाव को नहीं बदल सकते हैं और शरीर के परमाणुओं की चंचलता को नहीं रोक सकते हैं ।

कर्म के प्रकृति-बंध का कुछ ऐसा ही नियम है । केवल ज्ञानियों तथा तीर्थंकरों की महान् आत्माओं में अनन्त शक्ति होती है । शास्त्रकारों के अनुसार उनमें आत्म-ज्ञान का इतना प्रकाश होता है कि उस आलोक में वे सकल लोक को हाथ में रखे हुए आंखों के समान देख सकते हैं तथा उनकी आत्म-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि सारे ब्रह्मांड को गेंद के समान उछाल कर एक लोक से दूसरे लोक में फेंक सकते हैं । लेकिन वे भी अपने हाथ को एक बार जिन पुद्गलों पर रखते हैं, उसको वहां से उठा कर फिर से उन्हीं पुद्गलों पर नहीं रख सकते हैं । इसका कारण यह है कि आत्मिक-शक्ति पर उनका पूर्णतः नियन्त्रण होता है, लेकिन चलायमान परमाणु पिंडों पर वह नियंत्रण नहीं होता है । परमाणु इतने सूक्ष्म और चलित स्वभाव के होते हैं कि जिस परमाणु पिंड पर हाथ रखा, उतने में उसके परमाणु निकल गये । वैसे ही चलते समय बड़ी सावधानी से चल रहे हैं, जरा भी प्रमाद नहीं है । इधर से वे खाना हुए और उधर से चींटी आ गई व पैरों के नीचे दब कर मर गई । अब उनकी कषाय से विलगता थी, उनके अन्दर क्रोध तृष्णा आदि का नामोनिशान नहीं था, फिर भी शरीर से कर्म-बंध हुआ ।

इस प्रकार कर्म का प्रकृति-बंध शरीर से होता है । यह प्रकृति-बंध जब कषाय पूर्ण होता है तो उसका उस रूप में फल मिलता है ।

## कषाय सहित कर्म प्रकृति-बंध एवं उसकी तीव्रता तथा मंदता :

कषाय नहीं होने पर भी चलायमान पुद्गलों के कारण कर्मों का प्रकृति-बंध होता है । वैसी दशा में जब एक व्यक्ति कषायपूर्ण भावों के साथ कोई कार्य करता है तो वह प्रकृति-बंध तीव्र होगा । प्रकृति-बंध की तीव्रता अथवा मंदता कषाय जन्य भावों पर निर्भर करती है । कर्म फल के उदय में भी तदनुसार फल में भी तीव्रता या मंदता रहती है । जिनका अधिक पापबंध होता है, उन मनुष्यों के विचार और व्यवहार में क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा आदि के विकारी भाव अधिकांशतः पाये जाते हैं । उन कषायों के अधीन व राग-द्वेष के अधीन जब आत्मा अन्य कोई अपराध करती है तो उस अपराध का दंड भी कर्म-बंधन के तौर पर जुड़ता है । जितने अधिक तीव्र क्रोध से कर्म-बंधन करेंगे, उतनी ही अधिक तीव्रता से कर्मों का बंध होगा । यह प्रकृति बंध है । और केवल योग से होने वाला बंध अलग है । उसके भी चार भेद किये हैं । यह कर्म ग्रंथ का विषय है । कर्मों की अवस्था भी आपको समझनी जरूरी है ।

चार प्रकार के कर्म-बंधन है; उनको आप दूसरे उदाहरण के रूप में ले लीजिये । जब शीतकाल आता है तो उस समय कुछ वृद्ध लोग सोचते हैं कि मुझे तो सौंठ के लड्डू खाने हैं । कोई सोचते हैं कि मेथी के लड्डू खाने हैं । सौंठ या मेथी के लड्डू बनाने में क्या-क्या पदार्थ डाले जाते हैं-आप जानते हैं ? आप नहीं जानते तो बहिर्नों को मालूम होगा । ये जानती होंगी कि सौंठ, मेथी, घी, शक्कर, कालीमिर्च आदि वस्तुएं कितनी-कितनी डालनी होती हैं ? उस सौंठ के लड्डू में स्वाभाविक जायका भी होता है लेकिन उतना चरकास भी नहीं रहता है । उसी तरह मेथी के लड्डू में मेथी के कड़वेपन को मंद बना दिया जाता है । अन्यान्य पदार्थ उसके साथ मिलाने से मेथी की तीव्रता हट कर मन्दता आ जाती है-कड़वापन कम हो जाता है । शक्कर या मीठा ज्यादा मिलावे तो ज्यादा मंदता आ जायगी । इन सब चीजों के मिलाने पर रस बनता है । वह रस लड्डू खाने के बाद कितने समय तक टिकता है ? आप विश्वास करते हैं कि आगामी शीतकाल आयेगा तब तक बारह महीनों के लिये वह ताकत टिकेगी ।

जैसे लड्डू की बात है, वैसे ही कर्मों की बात है । प्रकट रूप में जैसे सौठ, मेथी जैसे ही कर्म कटु और तीखे होते हैं, लेकिन मिल जाने के बाद जितना दोष उसमें लगेगा, वैसा ही रस बनेगा । उदय में आने के बाद एक तो कड़ा दंड देगा जो तीव्र बंध वाला होगा और मन्द बंध वाला इतना कड़ा दंड नहीं देगा । समझ लीजिये कि आपके पेट में दर्द हुआ । एक तो ऐसा हुआ जिसके कारण बुरी तरह तड़प रहे हैं असह्य वेदना हो रही है । एक दर्द हल्का-हल्का हो रहा है और असह्य भी नहीं है, पर दर्द जरूर है । यह कर्म-बंध की तीव्रता या मन्दता के कारण होता है । एक फोड़ा ऐसा है कि रात दिन नींद नहीं लेने देता और एक फोड़ा ऐसा है जिसमें ज्यादा दर्द नहीं होता है-यह कर्मों का स्वाभाविक फल हुआ । ये कर्म फल देने की स्थिति में आते हैं और फल देकर चले जाते हैं ।

## यह दंड देने वाला न्यायाधीश कौन होता है ?

आजकल के भाइयों के मस्तिष्क में प्रश्न पैदा होता है कि यह भीतर में कौन न्यायाधीश बैठा हुआ है जो दंड देता है और सारी बातों का लेखाजोखा रखता है ? इसका उत्तर इतना ही दूँ कि एक मनुष्य ने मजाक-मजाक में अफीम की एक डली उठा कर मुंह में रखली तो उसका मुंह मीठा होगा या कड़ुआ ? उसका मुंह कड़ुआ होगा तो बताइये कि उसके मुंह को कड़ुआ बनाने वाला कौन है ? कोई नहीं है । उसने अफीम जैसी कड़ुवी वस्तु खाई तो मुंह का कड़ुआ होना स्वाभाविक है । खाने की भूल नहीं की जाती तो कड़ुआपन नहीं आता । आत्मा ने जानबूझ कर अफीम खाई तो कड़ुआपन आया । वैसे ही मनुष्य कर्म-बंध रूपी अफीम की डलियां खाता रहता है तो उसका स्वाद उसको भुगतना ही पड़ता है । मनुष्य जैसे भी शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है वैसे ही कर्म बनते हैं और उदय में आकर उसको सुख-दुःख देते हैं ।

वे दुःख किस प्रकार से देते हैं-इसका भी अलग-अलग सिद्धान्त है । सिद्धान्त की दृष्टि से आप सोचें कि आपके शरीर में दर्द हो रहा है-कभी कान में, कभी जोड़ों में तो कभी पेट में । अलग-अलग अवयवों में दर्द हो रहा है । समझें कि आपने मेथी का लड्डू खाया और दर्द मित गया, लेकिन क्या वह लड्डू समझ रहा था कि मैं पेट में जाकर इसके दर्द का इलाज करूंगा ? लड्डू खाये जाने पर पेट में गया और पेट में जाने के बाद उसकी रसायन क्रिया बनी तथा शरीर की ऐसी संरचना है कि वह रसायन दर्द के सभी स्थानों पर पहुंच जाता है और दर्द को ठीक कर देता है । यह तो एक बात लड्डू की हुई । दूसरी बात भी सुन लें । किसी के सरदर्द है, किसी के सर्दी जुकाम है, किसी को मलेरिया या टाईफाइड है तो डॉक्टर सब रोगों की अलग-अलग दवा देता है । एक रोगी चार पांच तरह की दवा खा लेता है तो वे दवाएं जाती कहां हैं ? पेट में ही जाती हैं, फिर भी वे दवाएं वहां से चलकर अलग-अलग रोगों को ठीक करती हैं । सिरदर्द की दवा सिरदर्द ठीक करती है तो सर्दी जुकाम वाली गोली सर्दी जुकाम को ठीक करती है । रोगों को यह ठीक कौन करता है ? क्या दवाइयां रोग को समझ गई ? असल बात यह है कि उन रोगों को ठीक कर सकने वाले पदार्थों को मिलाकर दवा बनादी और वह दवा जाकर उन रोगों पर अपना असर दिखाती है । वैसे ही जब कर्म-बंधन अमुक-अमुक कार्य के फलस्वरूप हो जाते हैं तो वे अपने प्रकृति बंध के अनुसार आत्मा को अलग-अलग फल भुगता देते हैं । कभी-कभी ऐसा भी प्रसंग आता है कि जिस व्यक्ति के प्रति अभी इस जन्म में अपराध किया गया है, वही व्यक्ति अगले जन्म में बदला लेने की बात सोचता है तथा बदला लेने की स्थिति भी बन जाती है । यह मत समझें कि आज एक व्यक्ति ने कहीं भी जाकर अपराध कर दिया तो उसका बदला उसी भव में चुकाना पड़ता है । आगे के भवों में भी उसके चुकाने का प्रसंग आ सकता है ।

सामान्य व्यक्ति की बात तो क्या कहें-भगवान् महावीर जैसे तीर्थंकर को भी बंधे हुए कर्मों का बदला चुकाना पड़ा तथा उनका फल भोगना पड़ा । दीक्षा अंगीकार करके महावीर तपस्या करने के लिये जंगल में चले गये, वहां एक जंगली व्यक्ति ने उनके कानों में कीले ठीक दिये । उस जन्म में तो उन्होंने कोई अपराध किया नहीं था लेकिन कई भव पूर्व । त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में उन्होंने अपनी अवज्ञा करने वाले एक अंगरक्षक के कानों में शीशा डलवा दिया था-उसी का बदला उनको अपने कानों में कीले ठोकवा कर चुकाना पड़ा । यह कार्य उन्होंने क्रोध के आवेश में किया था तो उस जंगली व्यक्ति ने भी-जो उस अंगरक्षक का जीव था-क्रोध के आवेश में ध्यान में खड़े भगवान् महावीर के कानों में कीले ठोके । उस अंगरक्षक की उस समय बदला लेने में असक्ति थी इसलिये उसने मन ही मन बदला लेने का क्रोधपूर्ण संकल्प किया था जिसके परिणाम स्वरूप यह घटना गुजरी ।

कहने का अभिप्राय यह है कि दंड देने वाला कोई अलग न्यायाधीश या लेखा-जोखा रखने वाला अलग लेखाकार नहीं होता है, बल्कि कर्मों के प्रकृति-बंध के हिसाब से सब कार्य स्वचालित क्रिया के रूप में होते रहते हैं ।

## कर्म-बंध के फल विचित्र-विचित्र रूप में प्रकट होते हैं :

उस अंगरक्षक ने उस समय बदले का संकल्प लिया था । कई भव बीत गये-वे कर्म उदय में नहीं आये । त्रिपृष्ठ वासुदेव की आत्मा भगवान् महावीर हुई और वह अंगरक्षक जंगली आदमी बना । भगवान् जंगल में ध्यानस्थ खड़े थे और वह उधर से निकला तो उनको देखते ही वह क्रोध से पागल हो गया-उसका बदले का संकल्प भड़क उठा । उसने महावीर के कानों में कीले ठोक दिये । उस जन्म में उस जंगली आदमी द्वारा भगवान् को दिये गये इस कष्ट के सम्बन्ध में सोचें तो उसका कोई कारण ज्ञात नहीं होता है । कर्म- बंध के फल जन्म-जन्मान्तरों के बाद भी विचित्र-विचित्र रूप में प्रकट होते हैं ।

कई मनुष्य कहते हैं कि कभी किसी अजनबी व्यक्ति की भी देखते हैं तो उसके प्रति प्रेम उमड़ने लग जाता है जबकि इस जीवन में उससे पहले कभी मिलने का भी काम नहीं पड़ा होता है । किसी व्यक्ति को पहले कभी नहीं देखा, लेकिन पहली बार देखते ही उसके प्रति मन में घृणा या क्रोध उत्पन्न हो जाता है । ऐसा क्यों होता है ? लोग अनुमान नहीं कर सकते हैं लेकिन जिसको देख कर प्रेम और प्रसन्नता उमड़ती है, यह मानिये कि उसके साथ पहले के किसी जन्म में आपका प्रेम सम्बन्ध रहा है । घृणा या क्रोध पैदा होने की दशा में उससे विपरीत अनुमान लगाया जा सकता है ।

ध्यानस्थ खड़े भगवान् महावीर की आत्मा अपने स्वरूप में चिन्तन कर रही थी । भगवान् सोच रहे थे कि ये जो आधि-व्याधि के रोग मेरी आत्मा को लगे हुए है, उनको यहीं पर समाप्त करना है । इन रोगों को जितना जल्दी समाप्त कर दूँ उतना ही अच्छा है । जंगल में वे किसलिये गये थे ? वे तपस्या करने के लिये गये थे । और तपाराधन क्या है ? अपनी आत्मा के रोगों का इलाज हो तो है । रोग का इलाज कैसे होता है-यह सोचने की बात है । वे जब ध्यान में खड़े थे तो उनको देखते ही उस जंगली आदमी के मन में तेज गुस्सा आया और यह विचार आया कि इसके कान में उबला हुआ शीशा डाल दूँ लेकिन शीशा उपलब्ध नहीं था । फिर कीले दिखाई दे गये तो उन्हीं का प्रयोग कर लिया । आप सोचिये कि दोनों कानों से कीले ठोकने से कितनी खून की धारा निकली होगी और कैसी असह्य वेदना हुई होगी ? लेकिन भगवान् ने सोचा-मुझे मेरे कर्मों का क्षय करना है तथा उसके लिये इस व्यक्ति पर तनिक भी द्वेष नहीं आना चाहिये । अपने अवधिज्ञान में उन्होंने देख भी लिया कि यह उन्हीं का कर्म फल है । कर्म क्षय करने के लिये फल भोगते समय निर्विकार एवं शान्त भाव होने चाहिये ।

कर्म क्षय के लिये वैसी ही मनोदशा होनी चाहिये, जैसी किसी फोड़े वाले रोगी की होती है कि यह फोड़ा कट जायगा तो मेरा सारा दर्द दूर हो जायगा, इसलिये वह ऑपरेशन के समय सहनशक्ति और शान्ति रखता है । इस फोड़े का जो डॉक्टर ऑपरेशन करता है, उसको आप आदर देते हैं या गाली देते हैं ? उसको अपना उपकारी समझते हैं । उसी तरह इस जीवन में भी जो आपको किसी भी प्रकार से कष्ट देने के लिये आता है, वह आपका उपकारी बन सकता है यदि आप उसके द्वारा दिये हुए कष्ट को बिना उस पर द्वेष लाये शान्तिपूर्वक सहन कर लें । जो भी कष्ट आता है, वह कर्म फल के रूप में आता है और उस समय यदि क्रोध आदि विकार पैदा करते हैं तो फिर नये कर्मों का बंध हो जाता है । इस तरह आत्मा कर्मों से विलग नहीं हो पाती है ।

कर्म-बंध के फल भी विचित्र-विचित्र रूप में प्रकट होते हैं, इसलिये जीवन में अधिक सावधानी की जरूरत पड़ती है कि कर्मों के उदय की वजह आने वाले कष्टों के समय स्वभाव की संयतता और शान्ति बनी रहे ताकि नये कर्म नहीं बंधे और पुराने कर्म चुक जावें । इस रूप में आत्मा अपने आठों कर्मों के रोगों का समूल निवारण कर सकती है ।

आत्मा के कर्मों के रोग :

आत्मा ही चिकित्सक :

भगवान् महावीर को ज्ञात हो गया कि ये कर्मों का बन्धन मेरी आत्मा का रोग है और इस रोग की चिकित्सा स्वयं आत्मा ही सहनशक्ति और शान्ति बनाये रख कर कर सकती है । जो कष्ट देने वाला आ रहा है, वह मेरा उपकारी है क्योंकि वह मेरे रोग के फोड़े का ऑपरेशन कर देगा और मुझे दर्द से छुटकारा दिला देगा शरीर का ध्यान छोड़ कर उन्होंने आत्मा की तरफ ध्यान लगाया और राग-द्वेष का अंश मात्र भी अपने मन में नहीं आने दिया । इससे पहले के कर्म टूटे और नये कर्म नहीं बंधे । ऐसी कठिन साधना से ही उन्होंने तीर्थंकर पद प्राप्त किया । अपनी आत्मा के कर्मों के रोगों की उन्होंने चिकित्सा की और वे सारे संसार की आत्माओं के लिये अद्भूत चिकित्सक बन गये ।

अनुमान करें कि  
आपकी आत्मा रोगी है या नहीं  
और है तो क्या करेंगे ?

पहले आप अनुमान करें कि आपकी आत्मा रोगी है या नीरोग है ? आपको सही-सही हकीकत मालूम हो जाय कि आपकी आत्मा रोगी है और एक नहीं, इसको आठ-आठ रोग लगे हुए है और वे रोग झलक रहे है तो क्या निष्क्रिय ही बैठ रहेंगे ? यदि आपकी आत्मा में तनिक भी विवेक की स्थिति जागृत होगी तो आप आत्मा को निर्मल एवं स्वस्थ बनाने में जरा भी विलम्ब नहीं करेंगे । आप को बता दूं कि भगवान् महावीर के चिकित्सालय में बाहरी शस्त्रों से चिकित्सा नहीं होती है-आध्यात्मिक चिकित्सा होती है जिससे मन और आत्मा दोनों स्वस्थ और पवित्र बन जाते हैं ।

ऐसी चिकित्सा की सुविधा आपको अन्यत्र नहीं मिल सकेगी । यह आत्मिक चिकित्सा का प्रसंग है और कर्म बंधनों को तोड़ना होता है । यह कार्य आत्म-साधना से सम्पन्न होता है । प्रकृति और प्रदेश बंध में कषाय नहीं है तो इन कर्मों का बंधन एक समय वाला पुण्य रूप में होगा । लेकिन वह स्थिति छद्मस्त साधकों में नहीं आती है-वीतराग में आती है । आत्मा की पूर्ण निरोग स्थिति ही वीतरागता है । जितना राग और द्वेष है वह आत्मा का रोग है और जो अन्तिम रूप में वीतरागता की स्थिति प्राप्त होती है, वह पूर्ण निरोग स्थिति है -आत्मा का सम्पूर्ण स्वास्थ्य है । स्व में सम्पूर्ण रूप से स्थित हो जाना ही स्वस्थ हो जाना है ।

इसलिये अपनी आत्मा के रोग निवारण एवं स्वास्थ्य लाभ की सबसे पहले चिन्ता कीजिये और चिकित्सा कार्य में जुट जाइये ।  
गंगाशहर-भीनासर  
23-8-77

## कर्मों के लेप : आत्मा का भार

*आत्मा बन्धनों से बंधी हुई है । बाहर के बन्धन उतने भयानक नहीं होते हैं । जितने भीतर के बन्धन कर्म बन्धनों की परतें चढ़ती रहती है । इससे आत्मा भारी हो जाती है । कर्मों का लेप ही आत्मा का भार है ।*

*कर्मों का बन्धन और लेप कैसे हटे, कोई भी कार्य बिना कारण नहीं होता । कारण जान लेंगे तो स्थिति स्पष्ट हो जायगी । योग से ही कर्मों का बन्धन होता है और योग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । सिद्ध भगवान के बन्धन नहीं बंधते । कर्म बन्धन के प्रधान कारण योग व्यापार है । पाँच कारणों से आत्मा कर्म बांधती है । अशुभ कर्मों से दुःख पैदा होता है ।*

*आत्मा पर सबसे गहरा लेप मिथ्याज्ञान का होता है । इसलिए सबसे पहले इस लेप को हटाना जरूरी है । आत्मा पर मिथ्यात्व का कर्जा है । कर्जा रखना अच्छी बात नहीं है । पानी में वायु प्रवेश नहीं कर सकती, जहाँ वायु रहती है, वहाँ पर पानी नहीं रहता है मिथ्यात्व की वायु मस्तिष्क में घुसी हुई है । आध्यात्मिक विज्ञान का जल उसमें प्रवेश नहीं करेगा । जलन पर जल नहीं छिड़का जाय तो जलन कैसे मिटेगी ।*

*आध्यात्मिक विज्ञान से जुड़कर ही भौतिक विज्ञान सुख पहुँचा सकता है । जीवन में यदि आध्यात्मिक विकास करना है तो वीतराग वचनों के अनुरूप पूरे आत्म विश्वास के साथ पुरुषार्थ करें तो मिथ्यात्व का विनाश किया जा सकता है ।*

पदम प्रभु जिन तुज मुझ आंतरूं रे .....



इस चैतन्य आत्मा का विचित्र प्रश्न भव्य प्राणियों के सामने हैं । यह आत्मा बंधनों से बंधी हुई है-बाहर के बन्धन इतने विकट नहीं है जितने भीतर के बन्धन । शरीर के बन्धन सहज ही में खुल सकते हैं लेकिन आत्म-स्वरूप के साथ सम्बद्ध कर्मों के बंधनों को खोलना सहज नहीं है । आत्म-स्वरूप पर ये कर्मों के लेप एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी और परतों पर परतों के रूप में इस तरह चढ़ते जाते हैं कि यह आत्मा भारी हो जाती है और भारी ही जाने के कारण यह अपने उर्ध्वगामी मूल-स्वभाव को विस्मृत करने लगती है । जितना कर्मों का लेप है, वह सब आत्मा का भार है ।

## कर्मों के लेप के कारण अनुसंधान की आवश्यकता :

आत्मा पर लोग कर्मों के लेप अथवा बंधनों को लेकर ज्ञानीजनों का स्पष्ट अभिमत है कि प्रत्येक आत्मा अपने मूल-स्वरूप से परमात्मा के तुल्य हाते हुए भी आभ्यन्तर अर्थात् भीतरी लेप या बन्धनों से युक्त है, इसलिये अपने स्वरूप से वह स्खलित है जबकि परमात्मा बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के बन्धनों से रहित होते हैं । कभी-कभी कोई संसार की आत्मा ऊपर से बंधनरहित भी मालूम होती है, लेकिन फिर भी आन्तरिक बन्धन होने से और ऊपर के बन्धन नहीं होने पर भी ऊपर से वह स्वतंत्र नहीं हो सकती है । वस्तुतः भीतर के बन्धनों का प्रभाव भीतर बाहर दोनों ओर फैला रहता है ।

इसलिये मुख्य प्रश्न यही है कि ये बन्धन दूर कैसे हों, यह लेप कैसे हटे तथा कर्मों के विपाक कैसे टूटें ? कवि ने इसके उपाय का संकेत प्रार्थना में दिया है-

**कारण जोगे हो बांधे बन्ध ने रे**

**कारण मुगति मुकाय ।**

कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता । यदि कार्य के स्वरूप को भली-भांति समझना है तो उसके कारणों का अनुसंधान करना होगा । कारण खोज लेंगे तो सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जायगी । कर्म-बन्धन या कर्मों का लेप भी एक कार्य है और इस कार्य के क्या कारण है-इस का अनुसंधान-करने की आवश्यकता है ।

कहा गया है कि योग से ही कर्मों का बन्ध होता है तथा योग से ही मोक्ष की प्राप्ति भी होती है । बिना कारण यदि कार्य होने लगे तो कार्य आधारहीन बन जायगा । बिना कारण यदि कर्मों का बन्धन होने लगे । बिना कारण यदि कर्मों का लेप-मोह माया का पुट आत्मा पर लगने लगे तो परमात्मा भी कर्मों से नहीं बच सकेंगे । लेकिन परमात्मा सिद्ध भगवान् होते हैं और तीन काल में भी उनके किसी तरह के बन्धन नहीं बन्धते हैं, न भीतर के, न बाहर के । नहीं लगने का कारण यह है कि बन्धन का हेतु उनमें नहीं है -बन्धन के कारण की ही विद्यमानता नहीं होती है ।

कर्म बंधन का प्रधान कारण होता है इस आत्मा का अपना ही योग व्यापार अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग । इन श्रोतों से जब अशुद्ध वृत्तियों का निर्माण होता है तो उन वृत्तियों से तथा उनके द्वारा बनने वाली प्रवृत्तियों से कर्म बन्धन होता है-आत्म स्वरूप पर कर्मों का लेप चढ़ता है । इन पांच कारणों से आत्मा कर्म बांधती है । कर्म बन्धते हैं तो उन अशुभ कर्मों से दुःख पैदा होता है तथा आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूपों के बीच में दूरी बढ़ती जाती है । जीवन में इन कर्मों के कुफल से जगह-जगह कष्टों का सामना करना पड़ता है और कर्मों का फल भोगते समय भी हाय-हाय करते हुए नवीन कर्मों का बन्ध किया जाता रहता है । इस नवीन कर्म बन्ध से आगामी जीवन में भी आत्मोन्नति के अवसर मन्द पड़ जाते हैं ।

इसलिये ज्ञानीजनों का यह उपदेश भव्यजनों के मन मस्तिष्क में आना चाहिये कर्म-बन्ध के कारणों का अनुसंधान करके उन कारणों को समाप्त करने का कठिन प्रयास किया जाय ताकि कार्य के बनने का प्रसंग ही नहीं रहे ।

मिथ्यात्व का भयावह कारण :

चेतन पर मिथ्या का अंधकार :

आत्मा पर सबसे गहरा लेप मिथ्यात्व याने कि मिथ्या ज्ञान का होता है, इसलिये सबसे पहले इस लेप को हटाना आवश्यक है । जब तक ज्ञान ही मिथ्या रहता है, तब तक न तो सही आत्म-स्वरूप समझ में आता है और न कर्मों के लेप को हटाने का ही भान होता है । मिथ्या ज्ञान सही वस्तु स्वरूप को सही तरीके से नहीं देख सकता है । वह सही को गलत और गलत को सही देखता

है । इस कारण सम्यक् ज्ञान स्वरूप चैतन्य पर मिथ्या का अंधकार छाया रहता है । कर्मों के लेप का इस दृष्टि से यह मिथ्यात्व एक भयावह कारण है ।

इस आत्मा के ऊपर मिथ्यात्व का भी एक कर्जा है । कल्पना करें कि एक व्यक्ति के ऊपर 12345 का कर्जा है । इसमें से यदि पहला 1 का अंक हट जाता है तो एकदम 10 हजार का कर्ज कम हो जाता है । कर्म-बंध के जो मुख्य पांच कारण हैं-मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय और योग-इनको क्रमशः 1,2,3,4,5 के अंक मान लें । मिथ्यात्व हटता है तो 10 हजार का कर्जा उतरता है, फिर 2345 का ही कर्जा रह जाता है । अत्रत दूर होता है तो फिर दो हजार कम हो जाते हैं । प्रमाद हटने से 300 का कर्ज कम होता है, कषाय के हटने से 40 का और योग हटने से 5 का । और इस प्रकार पांचों कारण दूर कर दिये जाय तो आत्मा का कुल कर्जा मिट जाता है । आत्मा अपने कर्म-बन्ध से उन्मूढ हो जाती है ।

इस दृष्टान्त से प्रत्येक कारण के घनत्व को समझने की जरूरत है । यदि आप इस मिथ्यात्व को छोड़ते हैं तो समझिये कि कर्मों के लोपित होने के सबसे बड़े और भयावह कारण को छोड़ देते हैं । लेकिन वह छोटे तब न ? है क्या आपकी तैयारी इस कारण को छोड़ने की ? क्या बताऊं, किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को अपने सिर पर कर्जा रखना अच्छा नहीं मानना चाहिये । उसे तो यही सोचना चाहिये कि सिर के ऊपर रहे हुए कर्जों को जल्दी से जल्दी उतार दे । इस कर्जों को समाप्त करने का उपाय भी ज्ञानीजन बताते रहते हैं ।

## मिथ्यात्व के भेदों का वर्णन आत्मिक ज्ञान की विधि:

मिथ्यात्व के भेदों का वर्णन पच्चीस बोल के थोकड़े में किया हुआ है, जिसको आप लोग में से कई लोग जानते होंगे । जो चैतन्य तत्व है, वह आत्मा है । इस आत्मा का स्वरूप क्या है, परमात्मा क्या है, आत्मा किन परिस्थितियों में कर्म बन्धनों से जकड़ी हुई है, इन बन्धनों के कौन-कौन से कारण है तथा इन कारणों को कैसे समाप्त कर सकते हैं ? ये सब आत्मिक-ज्ञान की बातें हैं । मिथ्यात्व इस ज्ञान पर लेप चढ़ा देता है और इसलिये मिथ्यात्व की मौजूदगी में इन सब बातों की सही जानकारी नहीं होती है । जब तक यह आध्यात्मिक विज्ञान नहीं होता है, आत्मा का सहीमार्ग पर कदम ही नहीं उठता है ।

विज्ञान शब्द से आप भौतिक विज्ञान का अर्थ न लें । भौतिक विज्ञान विज्ञान कहलाता है, लेकिन आत्मा का विज्ञान ही वास्तविक विज्ञान होता है और इसे आध्यात्मिक विज्ञान कहते हैं । विदेशों के कई बड़े-बड़े भौतिक वैज्ञानिकों ने बहुतेरी नई-नई चीजों का आविष्कार किया है । उनका प्रयत्न काफी समय से भौतिक विज्ञान की तरफ लगा हुआ है और भौतिक विज्ञान में उन्होंने कई सफलताएं अर्जित की हैं । भौतिक विज्ञान के आविष्कारों के प्रभाव से आज का मनुष्य आकाश में ऊंची ऊंचाइयों तक उड़ सकता है तो समुद्र की अतुल गहराइयों तक भी पहुंच सकता है । उसने ग्रह-नक्षत्रों की दूरी को भी नजदीक बना लिया है । आवागमन के साधन ही नहीं, दूर संचार के साधनों का भी इतना विकास कर लिया है कि हजारों कोसों की दूरी पर बैठे रहकर आपस में बातचीत ही नहीं कर लेते हैं, बल्कि बातचीत करते हुए एक दूसरे को देख भी सकते हैं । ऐसा लगता है, जैसे वे आमने-सामने बैठकर बातचीत कर रहे हों । इन सारे आविष्कारों को देखकर कुछ भोले लोग इस भौतिक विज्ञान पर इतने फिदा हो जाते हैं कि इसको ही सबकुछ मान बैठते हैं । उनका चिन्तन इसी तरफ चलता है और वे इसकी आध्यात्मिक विज्ञान से भी बड़ा बतलाने लग जाते हैं । ऐसी मान्यता के कारण वे बाहर ही बाहर भटकते हैं, भीतर में प्रवेश नहीं कर पाते हैं । उनका भौतिक विचार उसको मिथ्यात्व में लिप्त रखता है । वे आत्मिक ज्ञान से बहुत दूर रहते हैं ।

आप जानते होंगे कि पानी में वायु प्रवेश नहीं करती है तथा जहां वायु रहती है, वहां पर पानी नहीं जाता । एक सरोवर की सतह पर एक घड़े को उल्टा रखकर उसको पानी में पूरा डूबो दें, फिर भी उसमें पानी की एक बूंद भी नहीं धुसेगी । घड़े में वायु होती है, अतः पानी में पूरा डूबने के बाद भी पानी की एक बूंद को वह वायु घड़े में प्रविष्ट नहीं होने देती है । वायु इतनी बलशालिनी होती है । घड़े को टेढ़ा करेंगे तो वायु निकलेगी और पानी घुसेगा । इस रूपक को समझिये । आज के मनुष्य के मन मस्तिष्क में भौतिक विज्ञान की वायु भरी हुई है और वह उल्टा चल रहा है । अब उसमें आध्यात्मिक विज्ञान का जल तब भरे जब उसमें से वह वायु निकले । ये भौतिक संस्कार वायु की तरह मजबूती से भरे हुए हैं ।

मनुष्य के इन भौतिक संस्कारों के ही कारण पांचों इन्द्रियों की विषय कामना तथा अन्य पदार्थों की आसक्ति उसके मस्तिष्क में इस मजबूती से भरी हुई है कि आध्यात्मिक विज्ञान की बातें वहां स्थान पाती ही नहीं है । जब तक उसके मस्तिष्क में भौतिकता

की वायु भरी रहेगी, तब तक आध्यात्मिकता का जल उसमें प्रवेश नहीं कर सकेगा और तब तक मिथ्यात्व का निवारण भी नहीं हो सकेगा । आत्मिक ज्ञान की विधि भी तब तक अपनी जड़े नहीं पकड़ सकेंगी ।

कर्मजन्य कष्टों की जलन

और आध्यात्मिक विज्ञान का जल :

यह आत्मा कर्म-जन्य कष्टों की जलन से पीड़ित है-उस जलन से छुटकारा भी वह चाहती है, लेकिन मिथ्यात्व उस पर छाया हुआ रहकर उसको जलन से छूटने नहीं देता है । कोरी भौतिकता में जो आस्था है वह मिथ्यात्व है-कर्म बन्धन का प्रधान कारण है और मिथ्यात्व की वायु मस्तिष्क में घुसी हुई है तो आध्यात्मिक विज्ञान का जल उसमें प्रवेश नहीं करेगा-जलन पर जल नहीं छिड़का जायेगा तो जलन कैसे मिटेगी और शान्ति कैसे मिलेगी ? आध्यात्मिक विज्ञान का जल ही मिथ्यात्व की जलन को मिटा सकता है और आत्मा को शान्ति प्रदान कर सकता है ।

शान्ति तब मिलेगी जब पीड़ित आत्मा इस आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुंचेगी- सन्तों के माध्यम से वीतराग देवों की पवित्र वाणी को श्रवण करेगी । तब वह वाणी उसकी आन्तरिकता में उतरेगी और उसको आत्म-स्वरूप की सुगन्ध देगी । उसकी परीक्षा बुद्धि तब यह चिन्तन करेगी कि महाराज जो बात कह रहे हैं, उसमें उसके विश्वास की बात व्यक्त होती है या नहीं, संसार परीभ्रमण की बात आती है या नहीं, अथवा नीति और अनीति की बात आती है या नहीं । वर्तमान जीवन के लिये क्या हितावह है और क्या भयावह- इस पर वह विचार करेगा इस विचार के बाद अगर उसका निर्णय कोरे भौतिकवाद की ओर जाता है तो यही समझना पड़ेगा कि उसके मस्तिष्क की वायु निकली नहीं है । लेकिन विवेकशील व्यक्ति उस विचार से सही निर्णय लेगा और वह अपनी जलन को मिटाना चाहेगा । वह आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करेगा तथा अपनी आत्मा को जाग्रत बनायेगा ।

आज के युग में आध्यात्मिकता की बातें हर व्यक्ति के मन में सहज रूप से नहीं पहुंचती हैं । यह एक बहुत बड़ी क्षति है । हजारों लाखों विद्वान् पंडित होंगे, लेकिन उनके मस्तिष्क में वास्तविक शक्ति का प्रवेश नहीं हो रहा है । एक तटस्थ न्यायाधीश की दृष्टि से वे चिन्तन करें कि उनका आन्तरिक जीवन कैसा है -भीतर से क्या आवाज उठती है और वह आवाज क्या वास्तविकता बताती है, लेकिन बाहरी दबावों के कारण किस प्रकार दबा दी जाती है और फिर स्वयं ही निर्णय लें कि वे सही मार्ग पर चल रहे हैं या गलत मार्ग पर ? यदि ऐसी चेष्टा वे करें तो वे आत्मिक विज्ञान की दिशा में भी प्रगति कर सकते हैं ।

यों समन्वय की भावना से देखें तो भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों विज्ञान जीवन के बहुत बड़े विज्ञान हैं । लेकिन आज एक प्रकार से भौतिक विज्ञान को इतना बढ़ाचढ़ा कर देखा जाता है कि आध्यात्मिक विज्ञान की तरफ दृष्टि ही नहीं जाती है । भौतिक विज्ञान जड़ तत्वों पर आधारित होता है तथा जब तक जड़ तत्व चेतन तत्व द्वारा नियंत्रित नहीं होते हैं तब तक उनकी गतिविधि सही नहीं बनती है । इस कारण आध्यात्मिक विज्ञान के नियंत्रण में यदि भौतिक विज्ञान चलता है तो जीवन को दोनों विज्ञान समन्वित बन कर लाभान्वित कर सकते हैं । दोनों विज्ञानों का समन्वय इस लक्ष्य के साथ किया जाना चाहिये कि आत्म-स्वरूप पर भार रूप चढ़े कर्मों के लेप को हटाया जा सके । आध्यात्मिक विज्ञान का जल आत्मा के कर्मजन्य कष्टों की जलन को शान्त कर सके, तभी जीवन की सार्थकता है ।

आध्यात्मिक विज्ञान की सर्वोपरि महत्ता

आत्मा की निर्मलता सर्वोच्च लक्ष्य :

कल्पना करें कि एक वैज्ञानिक ने बहुत बड़ा भौतिक विज्ञान का आविष्कार दुनिया के सामने रखा-टेलीविजन बनाया । एक दिन उस वैज्ञानिक का प्राणान्त हो गया-अब उसके शव से कहें कि वह उस टेलीविजन का निरीक्षण करें और उसके दोष दूर करें तो क्या उस वैज्ञानिक का शव वह कार्य कर सकेगा ? क्या अन्तर आया उस वैज्ञानिक के जीवन से उसकी मृत्यु में ? भौतिक अनुसंधान ये वैज्ञानिक करते हैं, लेकिन इतने से अन्तर का अनुसंधान क्यों नहीं करते हैं ? उस शक्ति का ज्ञान क्यों नहीं लेते जो जीवन के समय में थी और मृत्यु में नहीं रही ? उनका भौतिक विज्ञान यह ज्ञान नहीं ले पाता है । यह क्षमता आध्यात्मिक विज्ञान में ही रही हुई है और इसी कारण आध्यात्मिक विज्ञान की सर्वोपरि महत्ता मानी गई है, जिसको सही दृष्टि बना कर भौतिक वैज्ञानिकों को भी माननी चाहिये ।

जीवन और मृत्यु के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध है कि जीवन में आध्यात्मिक विज्ञान ही सब कुछ होता है-भौतिक विज्ञान भी तभी समाज और व्यक्ति को सही लाभ पहुंच सकता है जब वह इस आध्यात्मिक विज्ञान से जुड़ा हुआ रहे । इस कारण आध्यात्मिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिये दिमाग को खुला रखा जाना चाहिये । जिस वक्त आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा मिले, उस वक्त भीतर के अन्य विचारों को अलग हटा देना चाहिये । यदि आप किसी बर्तन में कोई चीज लेना चाहते हैं और उस बर्तन में से घासलेट की बदबू आ रही है तो पहले उस बदबू को दूर करेंगे, तभी उसमें देशी घी जैसी अच्छी चीज भर सकेंगे । अगर बर्तन की सफाई नहीं करेंगे और अच्छी चीज भर लेंगे तो वह चीज भी बदबू वाली हो जायेगी । उस बिगाड़ में भला बर्तन का क्या दोष होगा ? घासलेट वाला बर्तन लेकर देशी घी लेने के लिये व्यापारी के पास में जायेंगे तो वह यही कहेगा कि पहले बर्तन को एकदम साफ कर लो और फिर उसमें देशी घी लो । सन्त मुनिराज आपको यही बात बताते हैं ।

जब आध्यात्मिक पाठशाला में आप पहुंचते हैं और शुद्ध घी के रूप में आध्यात्मिक विज्ञान को ग्रहण करना चाहते हैं तो पहले आप को यही ध्यान दिलाया जाता है कि विकारों के घासलेट से आपका मन दूषित हो रहा है- दुर्गन्ध से भभक रहा है । इसलिये पहले इस दूषण और दुर्गन्ध को मिटाओ ताकि शुद्ध माल शुद्धता के साथ टिक सके । इन्सान जहां भी चले, इस शुद्धता के साथ चले और अपने आप में स्थिर होकर चले तभी वह आध्यात्मिक विज्ञान को आत्मसात् कर सकेगा ।

आत्मा की निर्मलता उसका सर्वोच्च लक्ष्य बनना चाहिये । वह सोचे कि मैं कौन हूं ? मैं शरीर में हूं फिर शरीर के अधीन नहीं हूं । मैं शरीर से परे हूं इन्द्रियों से परे हूं । मेरा अपना निज स्वरूप है तथा उसी स्वरूप की सामग्री निर्मलता मुझे अभीष्ट है । इस शरीर, इन इन्द्रियों तथा जड़ तत्वों पर नियंत्रण साधने की शक्ति मुझमें है, जिसको विकसित बनाकर मैं अपनी सम्पूर्ण आत्म-शक्ति को प्रकट कर सकता हूं । यह जो चिन्तन है, वह आध्यात्मिक विज्ञान का चिन्तन है तथा जो अपनी आत्मा की सर्वोपरि महत्ता का अनुभव कर लेता है, वही अपनी आत्मा की सम्पूर्ण निर्मलता को भी अपना सर्वोच्च लक्ष्य बना लेता है ।

## आत्म-विश्वास एवं पुरुषार्थ से

### मिथ्यात्व का विनाश :

आत्मा में विश्वास इतना सुदृढ़ बनना चाहिये कि उस आत्मविश्वासी नींद में भी पूछा जाये कि तुम कौन ही तो उसका उत्तर निकले मैं आत्म-स्वरूप हूं । नास्तिक से नास्तिक आ कर कह दे कि आत्मा नामका कोई तत्व नहीं है तो भी वह उससे विचलित न हो । सभी मैं शब्द का उपयोग तो करते हैं लेकिन मैं को पहिचानते नहीं हैं मैं पर विश्वास नहीं करते हैं-यह कैसी विडम्बना है ? मैं को नहीं मानना अपना अपमान और तिरस्कार करना है । यह तो वैसी बात होती है कि एक व्यक्ति सभा में गया और बोला कि मैं बहुत दुःखी हूं । सभासदों ने पूछा तुम्हें किस बात का दुःख है ? वह बोला-क्या करूं-मेरी मां बंध्या याने बांझ है-इसका मुझे बहुत दुःख है । अब ऐसे व्यक्ति से पूछा जाय कि तू अपने अस्तित्व का प्रतिपादन भी करता है, अपनी मां का होना भी मानता है और मां को बांझ बताता है-यह कैसी बात है ? बांझ के सन्तान पैदा होती नहीं है और वह अपने अस्तित्व से मां का सन्तानवती होना सिद्ध कर रहा है याने कि वह अपने मुंह से ही अपनी बात का खंडन कर रहा है ।

उस बांझ मां के बेटे की तरह आज का भौतिकवादी भी अपने ही मुंह से अपनी बात का खंडन करता है । अपने को मैं मानता है-याने कि आत्मा का अस्तित्व अपने आचरण से स्वीकार करता है लेकिन मुंह से कहता है कि आत्मा और परमात्मा में विश्वास नहीं करता हूं । यह अपने प्रति विश्वास की कमी का लक्षण है । अपने में विश्वास रखकर भला कोई व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है ? आत्मा जो तत्व रूप अपने ही भीतर बोल रही है, उसके प्रति जितना अटूट और दृढ़ विश्वास होगा, वही व्यक्ति अपने जीवन का सही विकास साध सकेगा । आत्म-विश्वास दृढ़ होगा तभी पुरुषार्थ नियोजित किया जा सकेगा और पुरुषार्थ से ही मिथ्यात्व का विनाश हो सकेगा ।

अपने वचनों से ही अपने अस्तित्व को नहीं नकारें तथा अपनी बात को खंडित नहीं करें-इतना विवेक का दीपक भी यदि मनुष्य के मस्तिष्क में प्रज्वलित हो जाता है तो वह कर्मों के बंधनों के प्रधान निमित्त कारण मिथ्यात्व को हटाने में अपने पुरुषार्थ को लगा देगा । आत्मा को निर्विकार बनाने के सम्बन्ध में वीतराग के वचन अमृततुल्य होकर अनुकरणीय हैं । वे राग-द्वेष या काम-क्रोध के विकारों से रहित हैं । जो कुछ भव्य प्राणियों के लिये उन्होंने कहा है, वह स्वतंत्र समभाव की मात्रा से और निर्लिप्त भाव से कहा गया है । जो भी वस्तु स्वरूप उन्होंने बताया है, उसे उन्होंने अपने अनन्त ज्ञान में पहले देखा और फिर सहज भाव से बताया । सोचें कि एक पिता एम.ए. की डिग्री लेकर चल रहा है, वह अपने ज्ञान की बात अपने पांच वर्ष के पुत्र को समझायेगा तो क्या वह

समझ जायेगा ? पुत्र न भी समझे तब भी उसका अपने पिता में विश्वास होता है और इसलिये उनकी बात में भी विश्वास होता है, इसलिये पिता की बात वह कहीं नहीं भी समझता है तब भी हिंतावह विश्वास के कारण वह उनकी बात का पालन भी करता है । वह न समझी जा सकने वाली पिता की बात को बाद में समझ लेने की आशा रखता है । जैसे वह बच्चा अपने पिता का विश्वास करता है, वैसा ही विश्वास वीतराग वचनों के प्रति होना चाहिये और जो वह विश्वास है, वही आत्मा और परमात्मा के प्रति विश्वास होता है ।

जीवन में यदि आध्यात्मिक विकास करना है तो वीतराग वचनों के अनुरूप पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ पुरुषार्थ करें तो मिथ्यात्व का विनाश किया जा सकता है । और मिथ्यात्व जैसा बड़ा शंभा ही गिर जायगा तो बाकी के चार शंभों को गिराने में उतने कठिन पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं रहेगी ।

आध्यात्मिक जीवन को तौलते रहें,  
आत्मा का भार हल्का होता रहेगा :

भौतिकवादी विज्ञान के प्रभाव से अभी तक सामान्य रूप से बुद्धि का वैसा विकास नहीं हुआ है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में साधनारत लोगों के जीवन को भलीभांति नाप सकें । इस क्षेत्र के बारे में यह नहीं सोचें कि यह आधुनिक विज्ञान से सिद्ध नहीं हो रहा है तो इसकी कैसे मान लें ? आधुनिक यंत्र तो बाहरी साधन है, उससे आध्यात्मिक जीवन को नहीं नाप सकते हैं । आध्यात्मिक जीवन को नापने और तौलने की दृष्टियां कुछ दूसरी ही होती हैं, जिन्हें समझें, अपने ज्ञान नेत्रों का विकास करें तब कर्मों के लेप कम होते हैं, आत्मा का भार घटता है और हल्की बन कर वह अधिक उज्वल और अधिक उर्ध्वगामी बनती है । ज्यों-ज्यों अपने आध्यात्मिक जीवन की समीक्षा करते रहेंगे-उसकी दुर्बलताएं दूर करते हुए उसको आगे बढ़ाते रहेंगे, त्यों-त्यों आत्मा का कर्मों का लेप रूप भार हल्का होता रहेगा ।

आध्यात्मिक जीवन को नापना और तौलना कैसे ? बाहरी नाप के कांटे भी भिन्न-भिन्न होते हैं । कपड़े नापने का गज या मीटर होता है तो अनाज वगैरा तोलने के किलो आदि के बाट होते हैं । सोने चांदी का बारीक कांटा अलग होता है और वैज्ञानिक नाप तौल के यंत्र अलग ही होते हैं । क्या एक दूसरे के मापक से दूसरे पदार्थ को नापा या तोला जा सकता है ? क्या अनाज को मीटर से नाप सकेगे और कपड़े को बाट से तोलेंगे ? इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के माप-तौल का अलग ही कांटा होता है । आप हर आत्मा को तौलने के लिये अनाज के कांटे से तौलना चाहें तो क्या उसके स्वरूप को देख पायेंगे ? आध्यात्मिक जीवन का तथा आध्यात्मिक-स्वरूप का मापतौल आध्यात्मिक-दृष्टि से ही हो सकेगा जिसका विकास वीतराग वाणी के प्रति अखंड विश्वास रख कर किया जाता है । ऐसी आलोचक दृष्टि इसी आत्मा के ज्ञान और विश्वास से इसी आत्मा की आन्तरिकता में प्रकट होती है । वह दृष्टि ही निर्णायक दृष्टि होती है कि आध्यात्मिक जीवन का स्तर कहां चल रहा है और उसमें किस रूप से विकास की अपेक्षा है ?

हलुकर्मी आत्मा ही  
उर्ध्वगामी बनती है :

वैसे तो आप लोग आध्यात्मिक बातों को समझने की कोशिश करते हैं और श्रद्धा भी रखते हैं, लेकिन इतने ही से मिथ्यात्व का लेप हट नहीं जाता है । इस से कुछ सीमित अवश्य हो जाता है लेकिन आगे का कारण समझना और उसको मिटा कर सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाना-यह आत्मा के दृढ़ संकल्प से ही बन सकता है ।

आपने तूंबी देखी होगी जो बाबा लोग काम में लेते हैं । यह बड़ी हल्की होती है और पानी के ऊपर तैरती है । इस तूंबी पर अगर लेप पर लेप चढ़ाते जावें उसके भार को बढ़ाते जावें तो वह फिर तैर नहीं सकेगी और उसका सही उपयोग भी संभव नहीं रहेगा । इस तूंबी की तरह ही आत्मा का स्वरूप हल्का याने हलुकर्मी होता है किन्तु जब इस स्वरूप पर मिथ्यात्व का मोटा लेप चढ़ता है, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के लेप चढ़ते हैं तथा इनके निर्मित से कर्म-बंधन के गाढ़े लेप चढ़ते हैं तो आत्मा का भार इतना बढ़ जाता है कि यह नीचे से नीचे उतरती रहती है और दलदल में फंसती रहती है जहां से उसका वापिस निकल कर ऊपर आना भी अत्यन्त दुष्कर हो जाता है । इन लेपों को इस दृष्टि से सम्यक् साधना से मिटाना पड़ेगा और जितना यह आत्मा का भार मिटेगा, उतनी ही उन्नति की संभावनाएं प्रबल बनेगी, क्योंकि हलुकर्मी आत्मा ही उर्ध्वगामी बनती है ।

## आत्मा और शरीर पिंड

जैसे-जैसे शरीर जीर्ण होगा, आत्मा की मर्यादा का हास होता जायगा। आत्मा ही परिवार, और समाज की समस्याओं का समाधान करती है। आत्मा का इस शरीर पिण्ड के साथ अनादि काल से सम्बन्ध रहा है। यह शरीर पिण्ड इस आत्मा के लिए कर्मों का बीज है। कर्म बन्धन की विचित्रताओं से ही शरीर की विविधता प्राप्त होती है। चेतन आत्मा जब जड़तत्व से पृथक हो जाती है तो मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा एक रोज शुद्ध थी, बाद में अशुद्ध बन गई। पहले शुद्ध थी, तो बाद में अशुद्ध कैसे बनी। एक व्यक्ति का शरीर स्वस्थ है। क्या वह बाद में बीमार नहीं हो सकता आत्मा तो चेतन स्वरूप है। शरीर चाहे कितना ही सुन्दर और कोमल हो फिर भी एक दिन नष्ट होने वाला है। सदा काल आत्मा के साथ, शरीर के साथ सुरक्षित रहने वाला नहीं है।

सांसारिक जड़ पदार्थों को माया कहा गया है। आत्मा अपने स्वरूप से जब विस्मृत हो जाती है तो वह माया ग्रस्त हो जाती है। संसार में दो तत्व है, जड़ और चेतन। दोनों तत्वों को ब्रह्म और माया कहा गया है। संसार का कोई दर्शन इसके बिना अपने सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं कर सकता।

मिट्टी में घी है, मगर मिट्टी घी नहीं है। घी-दूध-दही से आया। कोई कहे कि मिट्टी से ही आया तो उसे कौन मानेगा। मिट्टी में घास उगी, गाय ने घास खायी, दूध दिया फिर दही का घी बनाया गया। उसी तरह आत्मा में अनन्त ज्ञान है। किन्तु आत्मा का जो वर्तमान रूप है, वह ज्ञान पूर्ण नहीं है। वर्तमान दशा में आत्मा अज्ञानी बनी हुई है। एक जागृत आत्मा जब साधना करने का संकल्प लेती है, वह संकल्प शरीर की सहायता से पूर्ण हो सकती है। आत्मा अनादि काल से इस शरीर पिण्ड के साथ मोह-माया में चल रही है, इस अवस्था से ऊपर उठे। कमल कीचड़ में पैदा होता है, फिर भी वह पूर्णता प्राप्त कर सुन्दर बन जाता है, वह अपने ऊपर कीचड़ लगने नहीं देता। अपनी आत्म शक्ति पर विश्वास करें, परमात्म स्वरूप को सामने रखे, तब फिर मोक्ष दूर नहीं होगा।

### पद्म प्रभु जिन तुज मुझ आंतरं रे.....

इस नाशवान शरीर पिंड के भीतर जिस अविनाशी पवित्रतत्व के अनुभव का प्रसंग है, वह कितना मननीय तथा आनन्ददायक है- इसका चिन्तन शरीरस्थ आत्माओं को करना चाहिये। इस चिन्तन के साथ-साथ उनका ध्यान इस शरीर पिंड से हटना चाहिये और अपना ध्यान आत्मा के निज-स्वरूप को देखने पर केन्द्रित हो जाना चाहिये। यदि शरीर का ध्यान ही किया जाता है तो उसमें स्थिरता नहीं आ सकती है। जैसे-जैसे शरीर जीर्ण होगा, नष्ट होगा या परिवर्तित होगा, वैसे-वैसे उस शरीरार्थी आत्मा की पर्यायों का भी हास होता जायेगा।

शरीर पिंड मात्र में जो ध्यान देता है, वह अपनी आत्मा को भूलता है, लेकिन जो आत्मा के प्रति अपने ध्यान को केन्द्रित बनाता है, वह शरीर पिंड को भूलता नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक साधना में शरीर पिंड का सदुपयोग करता है। शरीर पिंड द्वारा धर्म-साधना को पुष्ट बनाकर वह आत्मा की उत्तमता को प्राप्त करता है। उससे उसकी आत्म-शक्तियां पवित्र बन जाती हैं तथा जीवन में वे परम शुद्धता के साथ कार्य करती हैं।

## संसार में आत्मा का निवास शरीर पिंड में ही :

यह तथ्य है कि इस संसार में सारी की सारी आत्माएं अपने-अपने शरीर पिंड में ही निवास करती हैं । किसी भी आत्मा का स्वरूप बिना शरीर पिंड के नहीं मिलता है । शरीर पिंड में रहती हुई ही आत्मा संसार के अथवा अन्य कार्य करती है । जिस शरीर में वह रहती है, उस शरीर का संचालन भी आत्मा ही करती है तथा आत्मा ही परिवार तथा समाज की समस्याओं का समाधान करती है । इसी रूप में आत्मा का ही संचालन केन्द्र राष्ट्र और विश्व में ही रहता है । इस आत्म ने इस शरीर पिंड के साथ सम्पर्क किया तब से अपने शुद्ध-स्वरूप में चले तो आत्मा का ही वर्चस्व सब ओर दिखाई देगा ।

एक स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है कि ऐसी चेतन स्वरूप आत्मा का इस शरीर पिंड के साथ रहने का प्रसंग कब से आया ? क्या किसी रोज यह आत्मा शुद्ध थी और किसी कारण से शरीर पिंड और कर्मों से अलग थी ? यदि इस का बाद में अशुद्ध बनना पड़ा तो यह क्यों, कब और कैसे अशुद्ध हुई ? इस तरह इस विषय में बहुतेरे प्रश्न खड़े होते हैं ।

ज्ञानीजनों का कथन है कि यह आत्मा अनादिकाल से इस शरीर पिंड के साथ सम्बद्ध है । विविध प्रकार के शरीरों से लगी हुई रहती आई है । जब तक मनुष्य के शरीर में हैं तब तक मनुष्य के साथ लगी हुई है । जब देव का शरीर मिलेगा तो उसमें चली जायेगी और पशु योनि में जाने का प्रसंग आया तो पशु का शरीर धारण कर लेगी । नरक में जायेगी तो नरक की नेरिया बन जायेगी । लेकिन जब तक सम्पूर्ण रूप से इसको कर्मों से छुटकारा नहीं मिलेगा तब तक किसी न किसी शरीर पिंड के साथ इस आत्मा को सम्बद्ध रहना पड़ेगा । यह शरीर पिंड इस आत्मा के लिये कर्मों का बीज भी है तो कर्मों का फल भी है । कर्म-बन्धन की विचित्रताओं से ही शरीरों की विविधता प्राप्त होती है । तथा आत्मा का स्वरूप और निर्मल स्वरूप भी कर्मों के आवरणों से आच्छादित हो जाता है ।

कर्म-बन्धन दोनों प्रकार के होते हैं-शुभ और अशुभ । उनमें जब शुभता का बाहुल्य रहता है तो श्रेष्ठ शरीर मिलते हैं अन्यथा निम्न शरीरों की प्राप्ति होती है । कर्म रज याने कि कर्म का संयोग शरीर के संयोग से जुड़ता है और शरीर के संयोग से पुनः कर्म का उपार्जन पुण्य तथा पाप रूप में होता है , जिससे पुनः आगे शरीर धारण करने का निर्धारण हो जाता है । यह एक चक्र के मानिन्द है और यह आत्मा जन्म-मरण के इसी चक्र में उलझ गई है । इस उलझन में वह अपनी पवित्र शक्ति को विसार गई है ।

आत्मा और शरीर पिंड का यह सम्बन्ध अनादि है लेकिन अनन्त नहीं है । इस सम्बन्ध का जो अन्त है, वही मोक्ष है । चेतन आत्मा जब अम्पूर्ण कर्म क्षय करके जड़ तत्व से सर्वथा विलग हो जाती है, तभी वह सदा काल के लिये मुक्त हो जाती है ।

## आत्मा और शरीर का सम्बन्धः आत्मा की तद्जनित वृत्तियां :

यदि यह कल्पना की जाय कि यह आत्मा एक रोज शुद्ध थी और बाद में अशुद्ध बन गई तो इस कल्पना के साथ कई तरह के प्रश्न जुड़ जायेंगे । जब वह पहले शुद्ध थी तो बाद में अशुद्ध क्यों बनी ? जिस व्यक्ति का शरीर तन्दुरुस्त है तो वह क्या उसको रोगों से बचाने का प्रयास नहीं करेगा ? फिर आत्मा ने अपने आपको अशुद्ध क्यों होने दी ? यह आत्मा तो चेतन-स्वरूप है और शुद्ध-चेतन स्वरूप थी, फिर अशुद्धता लाने की असावधानी क्यों कर गई ? इसलिये ज्ञानीजनों ने यही कथन किया है कि यह आत्मा जड़तत्वों से अनादिकाल से सम्बन्धित है और अनादिकाल से ही पूर्ण शुद्ध-अवस्था से विहीन है । यह आत्मा कभी भी अपने शुद्ध-स्वरूप की सावधानी में नहीं आई ।

संसार में आत्मा सदा असावधान रही है और इस असावधानी के कारण उसने अपने समीप में जड़ तत्वों को एकत्रित किया तथा उनका आश्रय लिया । यह आत्मा इस लौकिक संसार में रहती और परिभ्रमण करती है । अपनी अज्ञान दशा में वह जड़ तत्वों को ही अच्छा समझती रही है । इसी अज्ञान दशा के कारण यह आत्मा जो वस्तु जैसी नहीं है उसको उस रूप में समझती रही है अर्थात् सही वस्तु-स्वरूप को देखने का पुष्ट दृष्टिकोण इस आत्मा का नहीं बन पाया है । वह यह नहीं समझती कि मेरा शरीर चाहे कितना ही कमनीय, कोमल और सुन्दर हो-एक दिन नष्ट होने वाला है, सदा काल आत्मा के साथ वही शरीर सम्बद्ध रहने वाला नहीं है । फिर भी वह अपना सारा ध्यान इस शरीर के प्रति केन्द्रित करके चलती है ।

मनुष्य को अपना शरीर उसी रूप में सर्वाधिकप्रिय लगता है, जिस रूप में एक बालक खिलौने को चाहता है। बच्चा अपने प्रिय खिलौने को देखता है तो उसे अपने शरीर से भी ज्यादा समझता है। खिलौने के पीछे शरीर को कोई क्षति पहुंचती हो तो उसकी भी वह परवाह नहीं करता है। खिलौना ही उस बच्चे का सब कुछ होता है। ऐसे बच्चे को जब बड़ा व्यक्ति देखता है तो वह सोचता है कि वह बच्चा बड़ा नादान है। कितना अच्छा शरीर इसका है जिसकी इसको परवाह नहीं है और खिलौने के पीछे यह बच्चा अपने इस शरीर को दौड़ाता, घुमाता और गिराता है। यह बात बड़ा व्यक्ति देखता है, लेकिन इसको बच्चा नहीं देख सकता है। वह खिलौने की तरफ इतना मुग्ध और आसक्त बना रहता है कि कोई उसके खिलौने के हाथ भी लगाने की चेष्टा करें तो वह रोता है और झगड़े करता है।

इस बच्चे की नादानी पर तो आप हंस सकते हैं, लेकिन क्या अपनी ही ऐसी नादानी पर कभी विचार भी करते हैं? बच्चा जैसे अपनी अज्ञानता के कारण एक खिलौने के पीछे अपने शरीर का भान भी भूल जाता है, वैसे ही क्या आप भी इस शरीररूपी खिलौने के पीछे अपनी चैतन्य आत्मा का ध्यान नहीं भूले हुए हैं? जैसे खिलौना टूट जाता है, वैसे ही शरीर भी एक दिन छूट जाता है, फिर मनुष्य इस शरीर में मुग्ध और आसक्त बन कर अपनी सर्वशक्तिशालिनी आत्मा को भूला हुआ रहे तो उसकी क्या यह नादानी नहीं है? इसका कारण है कि उसमें अपने स्वरूप को जानने की शक्ति पैदा नहीं हुई है, इसलिये संसारी पदार्थ ही उसको अच्छे लगते हैं और जड़ पदार्थों से ही वह मोह रखता है।

आत्मा स्वयं चैतन्य स्वरूपी होती है और इन सांसारिक जड़ पदार्थों को दार्शनिक परिभाषा में माया कहा जाता है। जब आत्मा निज-स्वरूप से विस्मृत होती है तो वह मायाग्रस्त होती है। मायाग्रस्तता के कारण न तो अपने स्वरूप को पहिचान पाती है और न जड़ पदार्थों के मोह से दूर होती है। शरीर रूपी जड़ पदार्थ से सम्बन्धित बनकर यह आत्मा जड़ पदार्थों की माया में रम जाती है तथा तद् जनित वृत्तियों में लीन हो जाती है।

आत्मा की मायाग्रस्त वृत्तियां,

मिथ्या दर्शन का प्रसंग :

संसार में दो तत्व हैं-चेतन और जड़। इन्हीं दोनों तत्वों को कोई ब्रह्म और माया कह कर पुकारते हैं तो कोई पुरुष और प्रकृति कहते हैं। संसार का कोई भी दर्शन इनके बिना अपने सिद्धान्तों की व्याख्या की नहीं कर सकता है। इन दोनों तत्वों को समझे बिना वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान भी नहीं निकाला जा सकता है। इन दोनों तत्वों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। जड़ तत्व एक दम ज्ञान शून्य होता है- कुछ नहीं समझता है तो चेतन तत्व सब कुछ समझता हुआ अनन्त ज्ञान का स्वामी बन सकता है। लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि जो तत्व सब कुछ समझता है, वह अपनी सारी समझ को उस तत्व के अधीन रखकर चल रहा है जो तत्व कुछ नहीं समझता है। यही मायाग्रस्तता है, यही अज्ञान है और यही मिथ्या दर्शन का प्रसंग है। इस मिथ्यात्व का प्रसंग इस आत्मा के साथ अनादिकाल से लगा हुआ है और इसीलिये इस चेतन का सम्बन्ध जड़ के साथ अनादिकाल से जुड़ा हुआ है।

यदि यह आत्मा अपने आप की स्थिति में शुद्ध होती तो उसकी ऐसी दशा कभी नहीं बनती। इसलिये यही कहा जाता है कि आत्मा अनादिकाल से अशुद्ध है। इसका स्वरूप प्रकट करने के लिये ज्ञानीजनों ने कुछ रूपक दिये हैं, उनको आप एक देशीय रूप से लें, सर्वांग रूप से नहीं लें। इस प्रार्थना को पक्तियों में भी इसका संकेत दिया गया है-

**कनकोपलवत् यहि पुरुष तणी रे,**

**जोड़ी अनादि स्वभाव ।**

**अन्य संजोगी जिहा लगे आतमारे**

**संसारी कहेवाय ।।**

कनक आप जानते हैं, स्वर्ण या सोने को कहते हैं। जिस स्वर्ण को संसारी व्यक्ति अत्यधिक मोह के साथ देखता है, उसके साथ अपने प्रेम को जोड़ता है, क्या स्वर्ण में अपने कोई प्रेम है? स्वर्ण तो जड़ तत्व है, किन्तु चैतन्य आत्मा अपने प्रेम को स्वर्ण पर उड़ेलती है। यह स्वर्ण कहां से आया? वह पृथ्वी पिंड से आता है-जमीन के भीतर खदानों से निकाला जाता है। यह सोना जिसको आत्मा प्रेम की नजर से देखती है, एक रोज मिट्टी में मिला हुआ था-इसके कण पत्थरों में जमे हुए थे। यह सोना कब से



मिट्टी और पत्थरों के साथ रहा हुआ था-इसका व्यापारी और स्वर्णकार कोई निर्णय नहीं दे सकता है । वैसे ही आत्मा कर्म-रूपी मिट्टी-पत्थर में जकड़ी हुई चली आ रही है ।

दूसरी स्थिति यह आती है कि जब यह आत्मा अनादिकाल से इसी तरह से रह रही है तो क्या इसको सुबुद्धि नहीं आ सकती थी ? इसका उत्तर भी इसी में आ जाता है कि सोना अनादिकाल से मिट्टी और पत्थर में पड़ा हुआ था, लेकिन चतुर व्यक्ति पहुंचे और उन्होंने अपने कौशल तथा पुरुषार्थ से कई रासायनिक क्रियाएं करके स्वर्ण को स्वर्ण का रूप दिया । यह आत्मा भी अनादिकाल से कर्म रूपी मिट्टी पत्थरों के साथ है-पारों से लिप्त है लेकिन ज्ञानी गुरु के योग से यही आत्मा अपने ज्ञान पुरुषार्थ से साधना की प्रक्रियाएं करके शुद्ध रूप बनना चाहे तो बन सकती है । वह सजग बनकर मिथ्या दर्शन के लगाव को दूर करें तथा मायाग्रस्त वृत्तियों से अपना पीछा छुड़ावे । वह जड़ तत्वों से अपने ध्यान को हटायेगी तो अपने चैतन्य स्वरूप को चमका सकेगी । इसके साथ ही यह आत्मा वर्तमान विभाव को छोड़ती हुई अपने स्वभाव में स्थित हो सकेगी ।

## आत्मा-ज्ञान का विकास

### उसकी निर्णायक शक्ति की पुष्टि:

आप दूसरा रूप लीजिये । आप अपने भोजन में घी को काम में लेते हैं । घी कहां से आया ? दूध से आया । दूध कहां से आया ? यदि आपको कोई कहे कि घी मिट्टी से आया तो आप उसकी बात को मानेंगे या नहीं ? आप नहीं मानेंगे लेकिन आज का वैज्ञानिक अनुसंधान आपका यह मानने के लिये बाध्य कर देगा । गाय या भैंस का दूध कहां से आया ? घास या बांटा खाने से और घास कहां से आया ? घास क्या मिट्टी से नहीं आया ? यदि मिट्टी में घी नहीं था तो घास में कैसे आता और घास में नहीं था तो दूध में कहां से आता ? दूध में से घी निकालने के लिये एक प्रक्रिया करनी पड़ती है । यह प्रक्रिया नहीं करें तो घी हाथ नहीं आ सकता है ।

अब प्रश्न पैदा होता है कि यह घी मिट्टी में कब से मिला हुआ था ? इसका निर्णय यह होगा कि मिट्टी में स्वाभाविक तौर से चिकनास होता है, जो घी का मूल है । यही वनस्पति में फल-फूल के रूप में प्रकट होता है । इसी मिट्टी से घास पैदा होता है, घास भैंस या गाय के पेट में जाता है और दूध बन जाता है । यद्यपि वह मिट्टी में अनादिकाल से रहा हुआ है, लेकिन रासायनिक प्रक्रिया से अलग हो जाता है । कहां तो मिट्टी और कहां घी ? ऐसे किसी घी के बदले में मिट्टी खाने के लिये कहे तो कौन खायगा ? कुछ लोग आदत वश मिट्टी खाते भी हैं । आदत के अधीन मनुष्य क्या नहीं करता ? आदत के अधीन होकर वह नाना प्रकार से कीटाणुओं को और कैसर तक के कीटाणुओं को अपने शरीर में डाल लेता है । यह आदत का ही कुप्रभाव है कि जिस तम्बाकू , बीड़ी, सिगरेट को पशु भी नहीं सूंधता, उसको मनुष्य काम में लेता है ।

यह आत्म-ज्ञान के अविकास की स्थिति है । मिट्टी में घी है लेकिन मिट्टी घी नहीं है, उसी तरह आत्मा में अनन्त ज्ञान है लेकिन आत्मा का जो वर्तमान स्वरूप है वह ज्ञानपूर्ण नहीं है । वर्तमान दशा में आत्मा अज्ञान बनी हुई है । जब तक साधना की प्रक्रियाएं नहीं की जाती है, आत्म-ज्ञान का विकास संभव नहीं होता है । आत्म-ज्ञान का विकास होता है तभी उसमें निर्णायक शक्ति पनपती है । एक ज्ञानी आत्मा ही जीवन की विविध समस्याओं पर समुचित निर्णय लेने में समर्थ होती है । आत्म-ज्ञान के उच्चतर विकास के साथ उसकी निर्णायक शक्ति अधिक पुष्ट भी बन जाती है ।

आत्मा के अज्ञान के फलस्वरूप ही मनुष्य कैसर की बीमारी पैदा करने वाली तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि का उपयोग करता है । जन्मते वक्त ऐसा व्यसन नहीं था, बाद में बुराई के रूप में ही यह व्यसन ग्रहण किया । मनुष्य अज्ञानवश अपने शरीर के मोह में रहता है लेकिन इन व्यसनों के पीछे शरीर को भी सुरक्षित नहीं रख पाता है तो ऐसा अज्ञानी मनुष्य भला इस चैतन्य देव को कैसे सुरक्षित रख सकेगा ? आप कहेंगे कि आत्मा ज्ञानी है, निर्णायक शक्ति रखने वाली है, स्वयं समझती है तो फिर ऐसा काम क्यों करती है ? अज्ञान में गलत-गलत आदतें बनाई जाती हैं । आत्मा की बात को ठुकरा कर और दुर्व्यसनों को पकड़ लेते हैं तब शरीर को भी बिगाड़ बैठते हैं । जैसे व्यसन में शरीर का ख्याल नहीं रहता, वैसी ही स्थिति आत्मा की है । उसने अनादिकाल से जड़ तत्वों के साथ रहने की अपनी आदत बना ली है । पुद्गलों के साथ जड़ मोह के नशे में वह बेभान है । इस बेभानी में वह पाप कार्य करती है, हंसते हुए पाप कर्मों का बंध करती है तथा धर्म करने की ओर आकर्षित नहीं होती है । यह ज्ञान के अभाव में होता है, इसलिये आत्मा ज्ञान का विकास किया जाना चाहिये ।

## जड़ तत्वों का संयोग, आत्मा की सबसे बड़ी विडम्बना :

चाहे शरीर पिंड हो अथवा अन्य पदार्थ-यह जड़ तत्वों का संयोग ही इस आत्मा की सबसे बड़ी विडम्बना है । आत्मा की वर्तमान दशा में इन जड़ तत्वों का बड़ा गहरा प्रभाव है । शुभ भाव में आकार कोई त्याग प्रत्याख्यान कर लिया जाता है तो बाद में मनुष्य पश्चाताप करने लग जाता है कि यह त्याग मैंने क्यों कर लिया ? यह त्याग नहीं करता तो अच्छा रहता । जड़ तत्वों के संयोग की प्रबल प्रभाविकता के कारण वह त्याग के लिये तो पश्चाताप करता है, लेकिन विकारों को ग्रहण करने के लिये-सांसारिक भोगों का सेवन करने के लिये उसके मन में कोई पश्चाताप नहीं होता-यह विडम्बना नहीं तो और क्या है ?

यह आत्मा जड़ तत्वों के प्रति मोहरूपी नशे में बेभान है और इसको इस नशे के असर से धर्म के बारे में कुछ नहीं सुझता है । जैसे दारू का नशा करने वाले को दारू ही सूझता है, वैसे ही आत्मा को जड़ तत्व ही प्रिय बने हुए हैं । उसका पर-स्वरूप के प्रति तो बड़ा मोह है, लेकिन निज-स्वरूप का कोई भान नहीं है । अनादिकाल से इस रूप में कर्म उसके स्वरूप को अपने आवरणों से ढके हुए हैं और उन कर्मों के अधीन होकर वह आत्मा संसार में परिभ्रमण कर रही हैं । जब तक यह आत्मा इन कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्धित है, तब तक वह संसारी पदार्थों को अच्छा समझ रही है और अपने स्वरूप को नहीं समझ रही है । बच्चों की तरह आज तक वह संसारी खिलौनों से खेलती रही है । ज्ञानीजनों की दृष्टि में ये सांसारिक पदार्थ खिलौनों के समान ही है । बचपन में खिलौनों से खेले सो खेले, अब बड़े-बड़े होकर भी खिलौनों से खेल रहे हो-जरा विचार तो करो । इन खिलौनों को तिजोरी में रखते ही, सम्हालने में चिन्ता करते हो और गुम जावें तो हाय-विलाप करते हो-सोना, चांदी, जवाहरात, सिक्के-ये सब मिट्टी के खिलौने ही तो हैं । भूतकाल में इनकी पर्याय मिट्टी की थी, वर्तमान में भी मिट्टी की पर्याय इनमें समाविष्ट है और भविष्य में भी यही पर्याय इनको प्राप्त होगी । लेकिन इस तत्व का ज्ञान कम है और ऐसे ज्ञान के प्रति रुचि भी कम है । यह भी जड़ तत्वों का ही असर है ।

आप भी क्या करें, सम्पूर्ण वातावरण में जड़-तत्वों का असर छाया हुआ है । परिवार, राष्ट्र और समाज का निर्वाह इन सिक्कों के बगैर नहीं होता, इसलिये इनका संचय करता है, लेकिन इनको सिर पर मत चढ़ाइये-इन्हीं को सब कुछ मत मानिये । जहां तक इनका उपयोग है, वह करिये, लेकिन आत्मा के स्वरूप को समझिये और उसको सर्वोपरि मानिये । आत्मा की इस विडम्बना को समाप्त करिये ।

## निज-स्वभाव में स्थित होकर ही आत्मा उन्नति कर सकेगी :

पर-स्वभाव में याने कि जड़ तत्वों के मोह में उलझी हुई यह आत्मा जब निज-स्वभाव में स्थित होगी, तभी वह उन्नति कर सकेगी और अपने स्वरूप को शुद्ध बना सकेगी, क्योंकि सजातीय तत्वों से ही सजातीय का सुधार होता है । आत्मा इन जड़ तत्वों से हटकर पवित्र बनने के मार्ग पर आगे बढ़े ऐसा प्रयत्न करना है । गेहूं, बाजरा या ज्वार के बीज जमीन में बोये जाते हैं तो बीज पहले क्या करता है ? पहले वह मिट्टी के साथ मिल जाता है लेकिन सावधानी रखता है । मिट्टी के साथ मिल कर मिट्टी का रस खींचता और एक से अनेक बीज पैदा करता है । वैसे ही जिस आत्मा में निज-स्वभाव को ग्रहण करने के प्रति जागृति आ जाती है, वह शरीर के उपयोग तथा उसके कार्यों में भी परिवर्तन ले आती है ।

आत्मा पहले विभाव के वश में होकर शरीर के स्वभाव में चल रही थी । शरीर जड़ तत्वों से बना होता है । सजातीय, सजातीय के साथ जाता है और इसलिये शरीर संसार के पौद्गालिक पदार्थों के प्रति आकर्षित होता था तो आत्मा भी शरीर के पीछे दौड़ती थी । आत्मा को यदि अपने स्वभाव का भान होता तो स्वयं भी अपने स्वभाव के अनुसार चलती तथा शरीर को भी उसी तरह चलाती, लेकिन उसने अपना स्वरूप दबा दिया और जड़ तत्वों के स्वरूप को पकड़ लिया तो यह उसके विभाव की अवस्था हो गई । विभाव का अर्थ है पर-स्वभाव । आत्मा स्वयं जड़ नहीं होते हुए भी जो जड़ का स्वभाव पकड़ लेती है, उस आत्मा को विभाव-गामी कहते हैं । विभाव की अवस्था में जड़ तत्व आत्मा को नचाते हैं और आत्मा जड़ तत्वों के प्रति व्यामोहित दशा में पड़ी रहती है ।

लेकिन जब इस दशा से आत्मा जागती है और अपने स्वभाव की ओर गति करती है तो वह विभाव को छोड़ने लगती है तथा विभाव को छोड़ने का ही यह मतलब होता है कि जड़ तत्वों के प्रति उसका मोह घटने लग जाता है । यह मोह जिस रूप में घटता

है, उसी रूप में आत्मा का मिथ्यात्व कटता है । मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्त्व का प्रकाश फैलता है । इस प्रकाश में जागृत आत्मा जड़ और चेतन दोनों तत्वों का सम्यक् विश्लेषण करती है तथा चेतन तत्व की याने कि स्वयं की संचालक एवं निर्णायक शक्तियों का अनुभव करती है । तब वह अनुभव कर लेती है कि इस शरीर पिंड को मेरे संचालन में मेरे आदेश के अनुसार काम करना चाहिये ।

तब वैसी जागृत आत्मा इसी शरीर पिंड को अपनी साधना का साधन बना लेती है । कहां तो वह शरीर पिंड के अधीन बन कर सांसारिक भोगों में लिप्त थी और कहां जागृति के प्रभाव से वह इस शरीर पिंड को भी अपनी साधना में लीन बना लेती है ? इतना लीन कि वह शरीर पिंड आत्मा का आदेश हो जाने के बाद भयंकर से भयंकर संकट आ जाने के बावजूद भी तनिक भी विचलित नहीं होता है । सिर पर मिट्टी की पाल बांध कर ऊपर घघकते अंगारे डाले थे तो गजसुकमाल के शरीर पिंड पर ही तो डाले थे । शरीर पिंड घू-घू करके जलने लगा किन्तु आत्मा का आदेश था कि वह तनिक भी नहीं हिले तो वह नहीं हिला और कष्ट सहन करते हुए नष्ट हो गया । ऐसी अवस्था आत्मा द्वारा निज-स्वभाव में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाने से ही उपस्थित होती है और इसी अवस्था से सर्वोच्च आत्मोन्नति का पथ प्रशस्त बनता है ।

**शरीर पिंड की महत्ता भी कम नहीं,  
संचालन आत्मा का होना चाहिये :**

शरीर माद्य खलु धर्मसाधनम् सबसे पहले तो शरीर ही धर्म का साधन होता है और इस दृष्टि से शरीर पिंड की महत्ता भी कम नहीं है -आवश्यकता इस बात की होती है कि संचालन एक जागृत आत्म का होना चाहिये । जिसने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया, उसने शरीर के साथ में भी युक्ति बैठा ली । पर्याय की दृष्टि से यह शरीर पहले मिट्टी का रूप था, उसको आत्मा की विशिष्ट शक्ति प्राप्त हो गई तो वह मिट्टी का रूप भी एक उपयोगी आकार बन गया । जिस विशिष्ट शक्ति के कारण वह उपयोगी बना तो उसका समूचा उपयोग उस विशिष्ट शक्ति के लिये ही होना चाहिये ।

एक जागृत आत्मा जब साधना करने का संकल्प लेगी तो वह संकल्प शरीर की सहायता से ही पूर्ण हो सकेगा । साधना करने की कोशिश होगी तो शरीर के माध्यम से ही हो सकेगी, बल्कि आत्मा बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनेगी तो इसी शरीर में रहती हुई तथा इसी शरीर में रहती हुई वह अन्तरात्मा से परमात्मा भी बन सकती है । इसीलिये शरीर का प्रयोग आत्मा को परमात्मा बनाने में हो जाय तो इससे बढ़कर शरीर की ओर क्या सार्थकता होगी ?

संचालक के महत्व को आप समझते होंगे । एक कार मशीन के रूप में पूरी तरह जड़ होती है । उसको एक व्यक्ति चेतन रूप होकर चलाता है । कार का उसका पूरा संचालन होता है तो उसको वह चाहे जिस गति से ले जाता है-चाहे वहां मोड़ता और घुमाता है तथा चाहे जितनी दूरी उसकी सहायता से पार कर लेता है । उसी रूप में शरीर तो मात्र एक वाहन है - कार के समान है । आत्मा संचालक होकर ड्राइवर हैं । अब वह आत्मा जागृति की अवस्था में अपने दृढ़ संचालन के साथ शरीर को धर्म साधना का साधन बनाती है तो आत्मा और परमात्मा के बीच की जो दूरी है, उसको आत्मा शरीर की सहायता से पार कर लेती है और इस शरीर में ही परमात्मा-स्वरूप का प्रकटीकरण हो जाता है । केवल संचालन का अन्तर आना चाहिये, वरना यही शरीर पिंड जो आत्मा को विषय भोग में लिप्त बनाता है, आत्मा को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर भी पहुंचा देता है । संचालन की अक्षमता भी आत्मा का दोष है । कार को दुर्घटना ग्रस्त बनाता है या उसको गलत रास्तों पर दौड़ाता है तो ड्राइवर का ही दोष होगा । चेतन तत्व अगर प्रशुद्ध और सन्नद्ध बन जाय तो वह शरीर पिंड का भी पूर्ण सदुपयोग कर सकता है । शरीर पिंडों में भी मानव का शरीर पिंड सर्वाधिक महत्वपूर्ण इसी कारण माना गया है कि इसकी सहायता से मोक्ष तक की सफल साधना की जा सकती है ।

**आत्मा को निर्णायक बनाइये,  
शरीर पिंड का सदुपयोग कीजिये :**

यह मानव शरीर पिंड जो मिला है, इसका सदुपयोग करके परमात्मा बनने का यह सुन्दरतम अवसर है । इस अवसर को खोइये मत । यह बहुत मुश्किल से मिला है । एक वक्त यह अवसर हाथ से निकल गया तो पश्चात्ताप के सिवाय कुछ नहीं बचेगा-यह अवसर फिर हाथ में नहीं आयेगा । आप आत्मा को निर्णायक बनाइये और प्रत्यक्ष अनुभव करिये । उन वृद्धों को पूछिये कि उनकी क्या हालत है-जिनकी जवानी निकल गई है और अब चलना भी मुश्किल हो रहा है । गुस्सा करने वाले बहुतेरे व्यक्ति सूखकर

लकड़ी के समान हो जाते हैं, पर अब कुछ नहीं कर सकते । जवानी में अकड़ थी तो अपने को नहीं सम्भाला, मस्ती में चलते रहे और शरीर पिंड का दुरुपयोग करते रहे । यदि जवानी में बेभान मस्ती से ऊपर उठ जाते तो वृद्धावस्था में यह हालत नहीं बनती । उनकी तो हालत बनी सो बनी,लेकिन आज जो नौजवान हैं, वे तो इन वृद्धों की हालत को देखकर सावधान हो जावें ।

यह शरीर पिंड का दुरुपयोग है कि पहले तो इसको मशीन की तरह काम लेते हैं । तब तो यह मशीन रुपया निकालती रहती है । फिर जब इसके पुर्जे घिस जाते हैं तो उनसे धर्म साधना भी ठीक से नहीं बन पड़ती है । शरीर जब तक सशक्त होता है, तब तक आत्मा जाग जाये और इस शरीर से धर्म-साधना करवा लें, तभी शरीर पिंड का सदुपयोग हो सकता है । अपने स्वरूप को समझ करके आत्मा सबसे पहले अपनी स्वरूप-शुद्धि का ही प्रयास करती है और उसका यह प्रयास शरीर पिंड के सदुपयोग से ही सफल बन सकता है ।

आप चिन्तन करें कि आत्मा अनादिकाल से इस शरीर पिंड के साथ मोह-माया में चल रही है । आप इस अवस्था से ऊपर उठें । आप जानते हैं कि कमल कीचड़ में पैदा होता है, फिर भी अपने रूप को किस प्रकार कीचड़ से अलग सुन्दर और रमणीय बना कर रखता है-कीचड़ का अपने ऊपर लेप नहीं लगने देता है । क्या इतनी कला होते हुए भी मनुष्य यह नहीं सोचेगा कि वह कमलवत् बने ? इसका निर्णय आप करिये- अपनी आत्मा को निर्णायक बनाइये ।

आत्मा का पक्ष जब तक जड़ की तरफ रहेगा, वह सही निर्णाय नहीं कर सकेगी और शरीर पिंड का भी सदुपयोग नहीं कर सकेगी । कमल पानी और कीचड़ में पैदा होकर भी मैल से निर्लिप्त रहता है जो एकेन्द्रिय जीव है, फिर आप संझी पंचेन्द्रिय होकर भी क्या उनकी निर्लिप्त वृत्ति को ग्रहण नहीं कर पायेंगे ? अपनी आत्मिक शक्ति पर विश्वास हो, परमात्म स्वरूप को सामने रखें और शरीर पिंड का सदुपयोग करें तो मोक्ष दूर नहीं रहेगा ।

## पाप कार्यों की सीमा बांधिये

*पाप कर्मों की सीमा बांधना आवश्यक है । मैं झूठ नहीं बोलूंगा हिंसा नहीं करूंगा । इन भावनाओं से पाप कर्मों की सीमा निर्धारित हो जाती है । जिस आत्मा को थोड़ासा भी ज्ञान हो जाता है, भव्य जन उसी को आदर्श मानकर चलते हैं । मैं दरिद्र नहीं हूँ, इस भावना से मुक्ति मिल जाती है । आत्मा सबसे पहले अपने द्वारा किये जाने वाले पापकर्मों की सीमा बांध लेती है । पापकर्मों के आगमन को वह रोक लेती है । उसी को खोयी हुई शक्ति प्राप्त हो जाती है ।*

*भव्य आत्माएं छिपी हुई शक्तियों का उद्घाटन करती है । मगर सबसे पहले हीन भावनाओं का त्याग कर देना चाहिए । इससे आत्मा की अनन्त शक्ति का आभास होने लगता है । इसी आभास से आत्मा की दुर्बलता दूर हो जाती है । द्वेष भाव मिटते ही सत-चित्त-आनन्द का स्वरूप परमात्मा का बन जाता है । प्रार्थना के समय आत्मा को सम्बोधित करते रहें । आत्म भावों से चिन्ता मिटेगी ।*

*मन में अनेक चिन्ताएं उभरती है । आत्मा को व्यर्थ का बोझ लादने की आदत पड़ गई है । अगर हमें गेहूँ मिल जाय तो भूसा प्राप्त करने के लिए कौन चिल्लायेगा । जिस आत्मा ने मिथ्यात्व को छोड़ने का विचार कर लिया है तो आत्मा मिथ्यात्व के मूल को हटाने का प्रयास करेगा । इसी से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । सम्यक्त्वी आत्मा संसार के सारे पदार्थों का बोझ अपने सिर पर लादकर नहीं रखती । समस्याएं मस्तिष्क को भारी बना देती है ।*

*धन सम्पत्ति पाने के लिए अगर कोई चिन्ता करता है और उसे प्राप्त नहीं होती है तो वह तन, मन से और शरीर से बीमार हो जाता है । शरीर क्षय होने लगता है । इसलिए लालसाएं त्यागनी होंगी । आध्यात्मिक शिक्षा से यह लोक और परलोक दोनों का लाभ होता है । चिन्ताएं दूर हो जाती है । अनावश्यक वस्तुओं का जितना त्याग होगा, उतना ही श्रेष्ठ रहेगा । पापकर्मों की सीमा बांध लेंगे तो उस सीमा तक का ही भार*

**आत्मा पर चढ़ेगा। इस सीमा बन्दी से आत्मा का स्वरूप हलका हो जायेगा। व्यर्थ के पापों को त्यागने में कोई बाधा नहीं पड़ती। व्यक्ति-दूसरे व्यक्तियों का माल हड़पना चाहता है इसीलिए पाप कर्म बढ़ रहे हैं।**

**पद्म प्रभु जिन तुज मुझ आंतरं रे.....**

प्रार्थना के माध्यम से इस जीवन की विशेष चर्चा का प्रसंग चल रहा है। जो लक्ष्य संसार में अत्यन्त कठिन माना जाता है, भव्य जन उसी को सम्मुख लेकर चलते हैं और उनके द्वारा ऐसा करने से उनकी आत्मा की आन्तरिक जागृति होती है।

जिस आत्मा को थोड़ा सा भी ज्ञान और भान हो जाता है कि मैं दरिद्र नहीं हूँ, महान् पुण्यशाली और ज्ञानवान हूँ तो वह हीन भावना से मुक्त होने लगती है। वह विचार करने लगती है कि मेरे अपने अन्तःकरण की गहराई में ही भाव रूपी धन के चरु गड़े हुए हैं। वे चरु अभी दिखाई नहीं दे रहे हैं, लेकिन उनके लिये अगर डट कर पुरुषार्थ करूंगा तो वे चरु बाहर आ सकते हैं। वे अमृतमय भाव जब बाहर आते हैं तो उन्हीं भावों से आत्मा का महान् गौरव प्रकट होता है।

अपने सामर्थ्य का ज्ञान हो जाने पर यह आत्मा सबसे पहले अपने द्वारा किये जाने वाले पाप कार्यों की सीमा बांध लेती है तथा व्यर्थ के पाप कार्यों का निरोध कर लेती है। पाप कर्मों के आगमन को वह रोक लेती है तथा संयुक्त पाप कर्मों के क्षय के लिये पुरुषार्थ प्रारंभ कर देती है। इसका सुफल यह मिलता है कि उसको अपनी ही दबी हुई निधियां प्राप्त हो जाती हैं।

**भव्य आत्मा हीन भावना छोड़े,  
अपनी अनन्त शक्ति का आभास ले :**

भव्य आत्माएं अपने भीतर छिपी हुई अनन्त शक्तियों का उद्घाटन कर सकती है, लेकिन उससे पहले उन्हें अपनी हीन भावना का त्याग कर देना चाहिये। वे जब अपनी शक्ति को दुर्बल महसूस करती हैं तो वे अपने आप में हीन दशा का अनुभव करने लगती हैं। यह हीन भावना छोड़ने पर ही आत्मा निज स्वरूप को पहिचानती है। इस हीन भावना को छोड़ने के लिये उसको अपनी अनन्त शक्ति का आभास लेना चाहिये। इस आभास से आत्मा की भीतरी दुर्बलता दूर होती है तथा पुरुषार्थ करने के नये उत्साह का संचार होता है।

अपनी अनन्त शक्ति का आभास लेने की प्रेरणा निम्न पंक्तियों में इस रूप में दी गई है कि तू ही भगवान है-तेरा स्वरूप कोई छोटा नहीं, महान् है-

**तू सो प्रभु, प्रभु सो तू है,**

**द्वैत कल्पना मेटो ।**

**सत् चित् आनन्द रूप विनयचंद्र,**

**परमात्म पद भेटो रे.....**

कवि विनयचन्द्र जी ने कितने प्रेरणादायक विचार रखे हैं कि प्रभु और आत्मा समतुल्य है और उनके बीच में जो द्वैत है, वह मिटाया जाना चाहिये। उस द्वैत के मिटते ही आत्मा का स्वरूप भी सत्, चित्, आनन्द रूप परमात्मा का बन जाता है। तू है सो प्रभु है और प्रभु है सो तू है, फिर मन में दुर्बलता क्यों लाता है और क्यों रोता चिल्लाता है ? क्या परमात्मा कभी रोता है और दुर्बलता लाता है ? तू अपने स्वरूप को समहाल तथा अपने सामर्थ्य को जगा।

यह तू कौन है ? यह मैं कौन हूँ ? यहां बैठने वाले भाई और बहिन कौन हैं ? क्या प्रार्थना की पंक्तियां आपने नहीं सुनीं ? आप सोचते हैं कि यह बात तो कवि विनयचन्द्र जी कह रहे हैं लेकिन किसको कह रहे हैं ? आत्मा को-प्रत्येक आत्मा को, तो उनमें आपकी आत्मा भी सम्मिलित है। इस पंक्तियों का उच्चारण करते हुए आप भी अपनी आत्मा को सम्बोधित करें कि हे आत्मन्, तेरा स्वरूप साधारण स्वरूप नहीं है, मूल में वह प्रभु के समान हो असाधारण है-उसमें दुर्बलता का अंश भी नहीं है, फिर तुझमें दुर्बलता क्यों है ? जिस वक्त आप अपने भीतर ईश्वरीय भाव का अनुभव करेंगे, उस वक्त उसकी विद्यमानता में रोने-धोने और दुर्बलता लाने का प्रश्न नहीं रहेगा। आत्म-भावों से चिन्ता मिटेगी और उनमें चिन्तन चलेगा। एक बार वह हीन भावना छोड़ कर अपनी अनन्त शक्ति का आभास ले लेगी तो वह शक्ति की अनुभूति उस आत्मा की गति में दृढ़ता भर देगी :

## मन में अनेकानेक चिन्ताएं, व्यर्थ का बोझ लादने की आदत:

इस आत्मा को व्यर्थ का बोझ लादने की आदत हो रही है। वह अपने मन में अनेकानेक चिन्ताएं लेकर के चलती है और इन चिन्ताओं को कई बार वह अपनी शक्ति का आभास पा जाने के बाद भी नहीं छोड़ती है। जब व्यक्ति को गेहूं मिल जाय और उसके बाद भी वह गेहूं के भूसे के लिये चिल्लाता फिर तो उस चिन्ता के लिये क्या कहना ? भूसा मिले तो क्या और नहीं मिले तो क्या ? इसी प्रकार जिस आत्मा को अपनी आध्यात्मिक शक्ति का आभास मिल जाय और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाय तथा वह अनुभव करने लगे कि मैं प्रभु के तुल्य हूं तो फिर संसार के रिश्ते आए तो क्या और जाएं तो क्या ? यह संसार का चक्कर हैं, आता-जाता रहेगा। जिस के साथ जितना संयोग होता है, उतना ही वह सम्बन्धी साथ में रहता है और इस विचार से परिवार का कोई तरुण सदस्य भी चला जाता है, तब उसके पीछे इतना आर्तध्यान-रौद्रध्यान नहीं किया जाना चाहिये। कदाचित् जिस सम्पत्ति को आप अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय मान रहे हैं, वही इधर-उधर हो जावे तो उसके पीछे भी क्या सन्ताप करेंगे ? वही आत्मा इस प्रकार के सन्ताप से छुटकारा पा सकती है जिस आत्मा ने मिथ्यात्व को समूल नष्ट कर देने का यत्न शुरू कर दिया है। जो आत्मा मिथ्यात्व के मूल को हटाने का प्रयास करती है, वह सम्यक्त्व के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा लेकर चलती है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति करती है। सम्यक्त्व के प्रति उसकी श्रद्धा इतनी प्रगाढ़ होती है कि चाहे सारी दुनिया में उथल-पुथल हो जावे, उसकी उस श्रद्धा में तनिक भी कमी नहीं आती है। ऐसी आत्मा ही अपने स्वरूप को अपनी शक्ति को, प्राप्त करने के लिये आगे चरण बढ़ाती है।

ऐसी सम्यक्त्व की आत्मा संसार के सारे पदार्थों का बोझ अपने सिर पर लाद कर नहीं रखती है तथा अनेकानेक चिन्ताओं से अपने मन को आकुल-व्याकुल नहीं बनाती है। अभी आप यहां पर बैठे हुए हैं तो आपका मस्तिष्क हल्का है या भारी ? कोई बतलायेंगे क्या ? आप कहेंगे कि हल्का है। जब हल्का मस्तिष्क होता है तो कोई भी काम जल्दी बनता है। अभी आपके मस्तिष्क में तिजोरी का भार तो नहीं है ? बैठे तो यहां पर हैं, लेकिन हो सकता है कि मन तिजोरी के माल को बढ़ाने की चिन्ता में लगा हुआ हो या अपनी कन्या के सम्बन्ध के विषय में चिन्तित हो तो मस्तिष्क में भारीपन बना रहता है। कई समस्याएं तो ऐसी होती हैं जिनका सामाजिक रूप से आप सही समाधान नहीं निकालते हैं और वैसी समस्याएं भी आपके मस्तिष्क को भारी बना देती हैं। जैसे यह अपनी कन्या के सम्बन्ध की ही समस्या है। दहेज के लिये लोग इतना मुंह फाड़ते हैं कि एक गरीब क्या, मध्यम वर्ग के पिता के लिये भी अपनी कन्या का ठीक सम्बन्ध कर पाना कठिन बना हुआ है। संसार में अन्य समस्याएं भी चलती रहती है। कभी व्यापार के सम्बन्ध में तो कभी सन्तान के सम्बन्ध में-इस प्रकार तरह-तरह की समस्याएं चिन्ता का भार बढ़ाती रहती है।

मनुष्य के सामने वास्तविक समस्याओं का जितना बोझ नहीं होता है, उससे भी अधिक उनके सम्बन्ध में की जाने वाली चिन्ताओं का बोझ होता है। ये चिन्ताएं मनुष्य के मन को दबा देती है। वह अगर एक दो मण वजन उठा ले तो उसके शरीर की कोई हानि नहीं होती, बल्कि उससे शरीर का बल बढ़ सकता है, लेकिन जो रात-दिन चिन्ताओं का वजन उठाए फिरता है, उसकी आकृति फीकी पड़ जाती है और शरीर गल जाता है। इसीलिये चिन्ता को ज्ञानियों ने चिन्ता के समान बताया है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि इन्सान ने व्यर्थ के बोझ को अपने सिर पर लादने की आदत बना ली है। ऐसी आदत को वह जानबूझ कर भी नहीं छोड़ पाता है। यह उसका अज्ञान है-उसका मिथ्यात्व है। जैसे वृक्ष की जिस डाल पर इन्सान बैठा हुआ है, उसी डाल को वह कुल्हाड़ी लेकर काटता है और इस बात का भान नहीं रखता है कि उसके काटने से डाल कट जायगी तो वह भी नीचे गिर जायगा, वैसे ही अनेकानेक चिन्ताओं के बोझ को ढोने वाला व्यक्ति अपने जीवन को क्षत-विक्षत बना लेता है।

ये चिन्ताएं पाप-कर्म बांधती हैं,

अतः मन को हल्का बनाइये :

मनुष्य जानता भी है कि मैं चाहे कितनी ही कल्पना करूं कि सारी दुनिया का राज्य मुझे मिल जाय, अमेरिका और इंग्लैंड की सारी सम्पत्ति मुझे मिल जाय तो वह मुझे मिलने वाली नहीं है। फिर भी रातदिन धन सम्पत्ति के लिये वह जो चिन्ता करता रहता है और उसकी शक्ति व बुद्धि उसी चिन्ता में लगी रहती है जिसके कारण वह मन से भी बीमार हो जाता है और तन से भी बीमार हो जाता है। ब्लडप्रेशर जैसी बीमारियां शरीर में आ जाती हैं जो शरीर का क्षय कर देती हैं। इस शरीर के क्षय से भी पहले ये चिन्ताएं

मन को संदेहशील और दुर्बल बना देती है, जिन की वजह से भावनाओं में आर्तध्यान, रौद्रध्यान का विस्तार होता है तथा उनसे पाप कर्मों का बन्ध होता है, अतः मन को व्यर्थ की चिन्ताओं से मुक्त बना कर उसको हल्का रखने की जरूरत है ।

इसका निर्णय प्रत्येक मनुष्य को करना है कि वह अपने वर्तमान जीवन में मन को चिन्ताओं से मुक्त तथा शरीर को बीमारियों से स्वस्थ रखना चाहता है अथवा इस जीवन को चिन्ताओं तथा बीमारियों से पीड़ित रखना चाहता है । यह संसार का वैभव, सम्पत्ति, परिवार, स्त्री, पुत्र आदि सब यहीं छूट जाने वाले हैं-साथ में चलने वाले नहीं है । इस दुनियां में अनेक व्यक्ति आये-राजा महाराजा भी आये और उन्होंने बड़े-बड़े आक्रमण किये, लूट-पाट मचाई तथा अपनी रक्षा के लिये बड़े-बड़े किले व भवन भी बनाये लेकिन जब उनकी मौत आई तो सब कुछ यहीं रह गया । वे जाते समय सिर्फ पापों की पोटली अपने साथ ले गये । वे उन पाप कर्मों के कारण मनुष्य-जीवन को निरर्थक कर गये और आगे भी पशु या नीच योनि में गये होंगे । ये सारी बातें सामने होते हुए भी मनुष्य अपने मन को हल्का बनाने की कोशिश नहीं करता है -यह चिन्तनीय विषय है ।

कहने को तो लोग यह कहते हैं कि महाराज जो उपदेश देते हैं, वह परलोक के लिए होता है, इस लोक के लिये नहीं होता । कुछ लोगों की ऐसी कल्पना सही नहीं है । मैं हर बात को ठीक तरह से जताने की कोशिश करता हूँ लेकिन शायद आप उस को अच्छी तरह से ग्रहण नहीं करते । जैसे आप बच्चे को स्कूल में शिक्षा देने के लिये भेजते हैं -बच्चा स्कूल में नहीं जाना चाहता है फिर भी उसको आप जबरदस्ती भी भेजते हैं क्योंकि आप जानते हैं कि वह स्कूल कालेज से डिग्री प्राप्त करेगा, तभी अपनी रोजी कमाने में कामयाब बन सकेगा । ऊंची पोस्ट मिलेगी, अच्छा वेतन मिलेगा या व्यापार के क्षेत्र में जायगा तो वहां भी अच्छी कमाई करेगा । इसको आप वर्तमान जीवन के लिये महत्वपूर्ण समझते हैं । लेकिन यदि आप जरा गहरा चिन्तन करेंगे तो आध्यात्मिक शिक्षा इस लौकिक शिक्षा की अपेक्षा कई गुनी अधिक महत्वपूर्ण होती है-ऐसा समझ लेंगे । इस आध्यात्मिक शिक्षा से आपका यह लोक भी सुधरेगा और परलोक भी सुधरेगा । यह लोक पहले सुधरता है, तभी परलोक भी सुधर सकता है । इस भावना से आप आध्यात्मिक शिक्षा को ग्रहण कीजिए । इसके प्रभाव से आपकी चिन्ताएं दूर हो जायेंगी तथा आप व्यर्थ के पाप कर्मों के बन्धन से बच जायेंगे । इस शिक्षा से आपका मन मस्तिष्क भी हल्का बनेगा । जो शास्त्रों के वचन हैं-भगवान् महावीर ने निर्देश दिये हैं, उन में सारा ज्ञान निहित है कि उनका अनुसरण करके इस जीवन को किस प्रकार सुखी बना सकते हैं तथा आगे के लिये भी कैसे सुख का साधन तैयार कर सकते हैं ?

मन की एकाग्रता रहे तो पाप कार्य रुक सकते हैं :

कल्पना करें कि एक व्यक्ति धन कमाने के लिए जा रहा है । दुकान पर बैठ कर वह सोचता है उसके यहां ग्राहक भी बहुत आते हैं- मेरे यहां उतने नहीं आते । क्या ही अच्छा हो कि उसके यहां ग्राहकों का जाना बन्द हो जाय और वे सबके सब मेरे यहां आने लग जाय । वह अपने लाभ के लिये दूसरों की हानि सोचता है । रात दिन ऐसी घात-प्रतिघात में लगता है तो क्या वह दुकान पर बैठ कर पैसा कमा सकता है ? उसका मनोयोग दुकान का काम करने में नहीं है अतः वह ग्राहकों को संतुष्ट नहीं कर सकता । ग्राहक सामने होते हैं और उसका मन दूसरी तरफ लगा रहता है । उसके मन की एकाग्रता क्यों नहीं रहती है ? क्योंकि उसके मन-मस्तिष्क में व्यर्थ की बातें ज्यादा भरी रहती हैं और महत्व की बातें कम । इस समस्या का हल निकालने के लिये शास्त्रकारों ने बताया है कि आश्रव का निरोध किया जाना चाहिये यानी कि पाप कार्यों में प्रवृत्ति नहीं हो ताकि पाप कर्मों का बंध रुक जाय ।

आश्रव का आशय है आना अर्थात् प्रवेश करना । जैसे नलों से पीने का पानी आता है, वह टैंक से आता है । कोई उस टैंक में गन्दे पानी का नल छोड़ दे तो क्या उस मिले हुए पानी को पिया जा सकेगा ? सबसे पहला काम यह होगा कि उस गंदे पानी के नल के द्वारा टैंक में आने वाले गन्दे पानी को रोकें । वैसे ही इस जीवन रूपी टैंक में कर्मों का गन्दा पानी अनेक दिशाओं से आ रहा है । इसे ही आश्रव कहते हैं। सबसे पहला आश्रव मिथ्यात्व है । जिसकी घर्म पर श्रद्धा नहीं होती है, उसकी बुद्धि में गन्दगी आसानी से प्रवेश कर जाती है । तब वह बुद्धि कलुषित बनकर पाप कार्यों में प्रवृत्त होती है । वह व्यर्थ के पाप कार्य भी बेधड़क करने लग जाती है तथा चिकने पाप कर्मों को बांधती है । उदाहरण के तौर पर समझे कि आपने इस वक्त व्यापार चालू कर रखा है और आपकी दूकानें बम्बई और कलकत्ता में हैं-आगे व्यापार बढ़ाने का कोई अवसर नहीं है तथा अमरीका, रूस, जापान में तो दूकानें खोलने की संभावना ही नहीं है तो इन स्थानों पर व्यापार करने का अगर त्याग कर लिया जाय तो उसमें क्या कठिनाई है ? व्यर्थ के पापों का बोझा सिर पर उठाकर क्यों फिरा जाय ? इसी प्रकार के कई त्याग हो सकते हैं और वैसे त्याग करना आसान है क्योंकि उन पदार्थों का आपको कभी काम ही नहीं पड़ता है, किन्तु ऐसे त्याग करने से व्यर्थ के पाप कार्यों का निरोध हो जाता है और उन कर्मों के बन्ध से आत्मा बच जाती है ।

## पाप कार्यों को सीमा बांधिये : आत्मा हल्की हो जायगी :

मनुष्य अभी तो सोच नहीं पाता कि उसने कोई पाप कार्य नहीं किया, फिर भी उसके कार्य में बाधा क्यों आ रही है ? लेकिन इस बाधा का कारण यह भी हो सकता है कि उसने व्यर्थ के पापों का त्याग नहीं किया जिससे निरन्तर आत्मा का भार बढ़ रहा है और तृष्णा भी निरन्तर बढ़ रही है । कम से कम अनावश्यक पदार्थों का भी जितना त्याग होगा , उतनी तृष्णा सीमित हो जायगी । पाप कार्यों की सीमा बांध लेंगे तो उस सीमा तक का ही भार आत्मा पर चढ़ेगा, बाकी सारे पाप कर्मों के बन्ध से आत्मा बच जायगी । इस सीमाबन्दी से आत्मा का स्वरूप हल्का बनेगा ।

मैं आपसे थोड़ी बात पूछूँ । हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो देश बन गये, फिर भी दोनों के बीच में शान्ति कायम नहीं हुई । बंगला देश के कारण फिर दोनों देशों में युद्ध छिड़ गया । उस समय एक साईरन की आवाज से लोगों के दिल दहलने लग जाते थे । मैंने सुना है कि जोधपुर पर पाकिस्तान द्वारा बम वर्षा की जाने की बराबर आशंका बनी रहती थी और जब भी खतरे का साईरन बजता तो लोग खाइयों में लेट जाते थे । यह युद्ध क्यों हो रहा था ? क्योंकि सीमाओं की मर्यादाएं टूट गई थी । बाद में जब सीमाओं का निर्णय कर लिया गया और सीमा चौकियां कायम करली गई तो लोगों के मन पर से युद्ध का भय हट गया । सीमाबन्दी से सुरक्षा हो जाती है । सीमा एक प्रकार की मर्यादा होती है और मर्यादा को अपना लेने पर मस्तिष्क तथा आत्म-भावों में हल्कापन आ जाता है । उसी प्रकार इस जीवन में जब सीमाबन्दी नहीं होती है तो पाप करने से भी अशुभ कर्मों का बंध होता है तो यह बंध बिना पाप किये भी होता है । इन पाप कार्यों की सीमा बांधले तो वर्तमान जीवन में से कष्ट दूर होने लगे ।

कल्पना कीजिये कि आपके घर के पास में पड़ीसी है जो रोज आपके बच्चों को पीट देता है और रोज झगड़े करता है । मकानों की बाउन्ड्री नहीं होने से इधर-उधर घुसपैठ हो जाती है और अशान्ति मचती रहती है । तब आप क्या करेंगे ? तब आप सीमाबन्दी करके बाउन्ड्री बना लेंगे ताकि दोनों अपनी-अपनी सीमा में रहें । फिर दोनों के बीच में शान्ति हो जायगी ।

## व्यर्थ के पापों का त्याग करने में तो कतई संकोच न करें:

वैसे ही आप व्रत प्रत्याख्यान लेते हैं और सोचते हैं कि व्यर्थ में किसी प्राणी को नहीं मारूंगा, तो यदि ऐसा त्याग भी कर लेते हैं तो अनावश्यक पापों से बच जाते हैं । अतः व्यर्थ के पापों का त्याग करने में तो कतई संकोच न करें ।

एक व्यापारी व्यापार कर रहा है, उसमें कहीं हिंसा का प्रसंग नहीं आता है, फिर भी हिंसा का त्याग करने और न करने की अवस्था में कर्म बंध की दृष्टि से अन्तर आ जाता है । हिंसा का प्रसंग नहीं है और हकीकत में भी बाद में हिंसा नहीं होती है लेकिन यदि इरादतन हिंसा का त्याग नहीं किया है तो अन्नती रहने के कारण आश्रव चालू रहता है । यदि हिंसा का त्याग कर लेता है तो वह संकल्प बद्ध होकर पाप कार्यों से विरत हो जाता है । त्याग करने से सीमा बंध जाती है और सीमा से बाहर की बातों का पाप उसको नहीं लगता है । चाहे पाप नहीं करें लेकिन अगर सीमा नहीं बांधी है तो अमर्यादा के दोष से वह छूट नहीं सकता है ।

इस कारण व्यर्थ के पापों को छोड़ने में कोई अड़चन नहीं आती है । डॉक्टरों के आपरेशन वगैरह का कार्य रहता है, लेकिन कोई डॉक्टर इस बात का त्याग करले कि वह किसी चलते फिरते जीव पर छुरी चलायगा तो उसको क्या अड़चन आती है ? इसी प्रकार यदि कोई व्रत लेता है कि मैं अपना कार्य करता हूँ, उस बीच में मेरा कोई अपराध नहीं करता है तो उसको मैं चला कर कोई दंड नहीं दूंगा, लेकिन जो मेरा अपराधी है उसके लिये मैं खुला हूँ । तो इस तरह के व्रत में क्या अड़चन आती है ? ऐसा प्रत्याख्यान लेते हैं तो उन प्राणियों को भी शान्ति मिलती है जिनकी सुरक्षा का आपसे खतरा हो और आपको भी शान्ति मिलेगी ।

उथल-पुथल और भय-भीति कैसे होती हैं-इसको भी समझ लीजिये । एक व्यक्ति नंगी तलवार लेकर दस हजार व्यक्तियों के बीच में खड़ा है और कहता है कि मैं तुमको मारूंगा । उसकी बुद्धि मारने की बनी हुई है और मरने के भय से हर एक आत्मा कांपती है जितने व्यक्ति वहां पर बैठे हुए हैं, उनके मन में मलिनता आयगी कि यह दुष्ट कौन आ गया ? न मालूम किसको मारना चाहता है ? जब वह व्यक्ति कहता है कि मैं सीमा लेकर चलता हूँ- सब मनुष्यों को मारने वाला नहीं हूँ, केवल अमुक प्रान्त के मनुष्यों को मारूंगा । जब उसने सीमा खोल दी तो एक प्रान्त के सिवाय बाकी सब प्रान्तों के मनुष्यों को शान्ति मिल गई । अब केवल एक प्रान्त के व्यक्तियों में ही उथल-पुथल रह गई । जिनका नाम खोल दिया, वे ही दुःखी रहे, अन्य दुःखी नहीं रहेंगे । वैसे



ही आज का मनुष्य मन, वचन और काया की तलवार लेकर चलता है और यदि उनके योग व्यापार की सीमा नहीं बांधता है तो व्यापक क्षेत्र के प्राणियों में भयभीति व्याप्त रहती है, लेकिन अमुक सीमा रखली तथा बाकी का त्याग कर दिया तो वह भयभीति केवल उस सीमा में ही रह जायगी तथा अन्य सबको शान्ति मिल जायगी ।

इस दृष्टिकोण से शास्त्रकार कहते हैं कि सीमा निर्धारित कर लो, नहीं तो व्यर्थ का पाप लगता है और अनैतिकता बढ़ती है । इसलिये व्यर्थ के पापों का त्याग करने में तो कतई संकोच नहीं करें ।

## जीवन में व्यर्थ के पापों का भार

### मनुष्य मर्यादाहीन न रहे :

आप कहेंगे कि त्याग नहीं लें, लेकिन अमरीका, रूस हम जाते नहीं हैं तो पाप कैसे लगेगा ? कैसे पाप लगता है-इस बारे में एक छोटा-सा रूपक देदूँ । एक व्यक्ति के घर में बच्चे का जन्म हुआ । उस व्यक्ति के घर में सम्पत्ति कितनी है, लेनदेन कितना है, कर्जा कितना है-यह सारा लेखा-जोखा उस व्यक्ति को ही मालूम है । उस छोटे बच्चे ने व्यापार अभी चालू किया नहीं, सम्पत्ति वह समझता नहीं, लेकिन जन्म लेने के साथ ही उस बच्चे का पैतृक सम्पत्ति में अधिकार पैदा हो गया या नहीं ? यदि उस व्यक्ति पर कर्जा है तो उसके एक भाग की जिम्मेदारी बच्चे पर भी आयगी या नहीं ? यदि वह कर्जा नहीं चुकाना चाहता है तो सम्पत्ति के अधिकार को छोड़ दे । लेकिन यदि वह इतना ही कहे कि मैं व्यापार के बारे में कुछ जानता नहीं तो मुझे कर्जे की जिम्मेदारी क्यों उठानी पड़ेगी तो क्या उसकी यह बात चलेगी ? यह बात चलती नहीं है । वैसे ही संसार एक बहुत बड़ा परिवार है, उसमें जिस आत्मा ने जन्म लिया है, उसके जिम्मे सार्वजनिक जितने कारखाने हैं, जितने अन्य संस्थान तथा पदार्थ हैं, उन पर उसका हक कायम हो जाता है । कभी भी जाकर कुछ ले सकता है तो सारी जिन्दगी भर उस कर्जे को सिर पर रखना उसके लिये लाजमी हो जाता है । मर्यादाहीन मनुष्य का ऐसा ही हाल होता है कि वह जीवन में व्यर्थ के पापों का भार ढोए फिरता है ।

दूसरी बात और सोच लीजिये । आपके पिताजी ने कलकत्ता में पांच सौ रुपये माहवार किराये पर एक हवेली ले ली और भाड़ा चिट्ठी लिख दी । वहां जाकर रहना तो नहीं है, लेकिन बच्ची की शादी करनी है सो समय पर स्थान नहीं मिले तो कठिनाई होगी-इस विचार से भाड़ा चिट्ठी लिखी । अब संयोग ऐसा आ गया कि विवाह-शादी का प्रसंग आगे सरक गया और पिताजी बीमार हो गये । साल दो साल तक उस हवेली में न तो पिता गये और न पुत्र ही गया-तब भी क्या उसका भाड़ा देना पड़ेगा या नहीं ? यदि आपके पिताजी कहें कि हवेली मेरे न तो बच्ची की शादी हुई और न हम रहे-फिर हम भाड़ा किस बात का दें तो क्या उनका यह कहना चलेगा ? जब तक हवेली खाली नहीं की जायगी तब तक का भाड़ा देना पड़ेगा या नहीं ?

वैसे ही इस जीवन में व्यर्थ के पापों का भाड़ा चढ़ रहा है और आत्मा इस भार से दब रही है । इन्सान इतना बेजार बना हुआ है कि हर किसी के माल को हड़पना चाहता है और इसलिये पाप बढ़ता है । यदि सांसारिक कार्यों की सीमा बांध लें तो उस सीमा तक ही पाप लगेगा । एक व्यक्ति ज्यादा लेना चाहता है तो दूसरे भी ज्यादा लेना चाहेंगे और एक व्यक्ति सीमा बांध लेता है तो दूसरे भी मर्यादा बांधने की दिशा में प्रेरणा लेंगे । मनुष्य मर्यादाहीन न रहे-यह आवश्यक है ।

### मर्यादा का सर्वमान्य महत्व :

### राम और रावण का अन्तर :

मर्यादा निर्धारण का महत्व सर्वमान्य है तथा मर्यादा बांधने वाले वीर पुरुष कहलाते हैं । रावण को आप क्या समझते हैं ? यदि कोई राम और रावण की जय बोलने को कहे तो किसकी जय बोली जायगी ? राम की ही जय बोलेंगे । रावण ने आपका क्या बिगाड़ा है ? आप सोचते हैं कि कुछ नहीं बिगाड़ा, लेकिन नहीं, उसने सारी दुनिया का बिगाड़ा है । रावण के मन में था कि मेरा है मगर है तेरा भी मेरा है । यही उसमें राक्षसी भावना थी । इसी भावना से उसने सीताजी का हरण किया । रावण के रनिवास में रानियों की कोई कमी नहीं थी लेकिन उसने कोई मर्यादा नहीं ले रखी थी । उसके यह व्रत नहीं था कि मैं पर स्त्री को बहिन समझूं । मर्यादा नहीं होने के कारण ही सीता जी को उठा लाया और न मालूम किस समय किसको उठा ले आता ? यह क्यों था ? इसलिये कि उसने सीमा नहीं बांधी थी, न राज्य की, न सम्पत्ति की और न अन्य की । वह यही समझता था कि आक्रमण करके जितना भी ला सकूं वह सब मेरा है । उसकी भावना मर्यादाहीन थी, इसलिये दुनिया चाहती थी कि इस अनैतिकता का प्रतिकार हो ।

दुनिया की भावना के अनुरूप राम ने कार्य किया । उनका नाम ही मर्यादा पुरुषोत्तम था । राम को लंका नहीं चाहिये थी । उसको तो मर्यादा का महत्व स्थापित करना था । इस मर्यादा की दृष्टि से ही जहां राम प्रकाश थे तो रावण अंधकार था । वैसा ही रावण आज उपस्थित हो जाय तो उसकी सभा में क्या बहने जाएगी ? कहा जाता कि मुसलमानों के जमाने में स्त्रीजाति के प्रति कोई सीमा नहीं थी-कोई भी रूपवती स्त्री को उठाकर ले जाता था । आप तो जानते होंगे कि रक्षात्मक भावना से ही पर्दा प्रथा उसी जमाने में शुरू हुई थी ।

अभिप्राय यह कि जब तक व्रत नहीं लिया जाता अथवा मर्यादा नहीं बांधी जाती है तब तक इसी शरीर और बुद्धि के माध्यम से वह रावण आज भी जिन्दा हो सकता है । आप रावण को नहीं चाहते और राम को चाहते हैं तो पापों की सीमा बांधिये और जीवन के प्रत्येक कार्य में मर्यादा के साथ चलिये ।

सीमा बन्धती है व्रत ग्रहण से  
और व्रत से अव्रत टूटता है :

प्रार्थना की दृष्टि से अव्रत की बात कही है तथा व्रत के भेद बताये हैं जिनके अनुसार व्रत ग्रहण करके सीमा में आ जाना चाहिये । व्रत ग्रहण से ही सीमा बंधती है तथा जीवन मर्यादामय बनता है । जिसके साथ शादी करली उसके अलावा सब माताएं बहने हैं-यह सीमा करने से अन्य सब छूट जाती हैं और विषय-भोग की मर्यादा बंध जाती है । चलते-फिरते निरपराध जीवों को नहीं मारें-ऐसी मर्यादा करते हैं तो व्यर्थ की हिंसा छूट जाती है । झूठ की सीमा बांधते हैं तो व्यर्थ का झूठ छूट जाता है । परिग्रह तथा भोग-उपभोग की मर्यादा ले लेते हैं तो जो सीमा खुली रखी है उसके अलावा संसार के समस्त पदार्थों का त्याग हो जाता है । इस मर्यादा-निर्धारण से मन को शांति मिलती है क्योंकि तृष्णा मिट जाती है तथा तन स्वस्थ हो जाता है क्योंकि चिन्ता हट जाती है । व्रत ग्रहण करने से स्वभाव में सौम्यता आती है तो उससे परिवार, समाज तथा राष्ट्र में एकता की भावना बढ़ती है और अव्रत टूटता है तो आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी भी घटती है ।

अव्रत टूटता है तो 12345 में से 12000 का कर्जा और घट जाता है । फिर तो 345 का कर्जा ही रह जाता है । इसलिये व्रत ग्रहण करके समस्त पाप कार्यों की सीमा बांध लीजिये । अभी आपको सन्तोष नहीं हो तो सीमा ज्यादा रख सकते हैं जिसको आहिस्ता-आहिस्ता घटाते रहिये । सीमाबन्दी बनी रहने से जीवन सुव्यवस्थित और पवित्र बनता जायगा क्योंकि सीमा के सिवाय अन्य समस्त पाप कार्यों का परित्याग हो जायगा । तू सो प्रभु, प्रभु सो तू हैं की भावना कार्यरत रही तो उस मार्ग पर प्रगति अवश्यंभावी है ।

**प्रमाद : एक व्याख्या**

*जिन आत्माओं ने अपने परम पुरुषार्थ के बल पर अपने स्वरूप को विकसित कर लिया है । उन आदर्श आत्माओं को अपने लक्ष्य में रख करके संसार में रहने वाली आत्माएं संसार के घोर दुखों को झंझावातों से अपने-आपको मुक्त बना सकती है ।*

*आत्मा और परमात्मा के स्वरूप में अन्तर दिखायी देने लगा । कर्म बन्ध की अशुद्धता आत्मा के स्वभाव और उपयोग को अशुद्धता से पैदा होती रहती है । बाहर की दृष्टि जब तक दूर नहीं होती, तब तक अन्तर की दृष्टि पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती है । इस अन्तर को मिटाने के लिए आत्मा-परमात्म स्वरूप का वरण कर लेती है । फर्क इतना ही है कि एक का शरीर मैला और दुर्गन्ध पूर्ण है और दूसरा शरीर निर्मल रूप में स्वच्छ है । जब तक वस्तु का आकर्षण उसके उपयोग में बना रहता है । तब तक कार्य की सिद्धि होती रहती है ।*

आत्मा इस मनुष्य शरीर में रह कर भी किसी भी योनी का बीज हो सकती है। देव योनी का दिव्य शरीर धारण करने का बीज भी मनुष्य योनी में पैदा किया जा सकता है। पशु योनी का बीज भी बोया जा सकता है। कर्म बन्धन के जो पाँच कारण बताये हैं मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय और योग कर्मों का छोटा सा बीज इन पाँचों कारणों का खाद पाकर, वट वृक्ष के रूप में बदल जाता है। शत्रु की शक्ति को कभी बढ़ने नहीं देना चाहिए। अन्तर के शत्रु बड़े दुर्दान्त होते हैं।

सेवा अप्रमत्त भावना से होती है। प्रमाद का निर्णय भी सद्गुण और दुर्गुण के आधार पर निकाला जा सकता है। जो प्रमाद को हटाता है वह अप्रमत्त रूप में जाना जाता है। जहाँ प्रमाद हो वहाँ पाँचों इन्द्रियों के विषय भोग की लालसा अधिक रहती है। जितना कर्मों का मैल है। वहाँ विकारों के सेवन से आत्मा पर लगता है। इस मैल को दूर कर दें तो आत्मा का उद्धार निश्चित है।

पदम प्रभु जिन तुज मुज आंतरं रे .....

सत्-चित् आनन्द रूप आत्मा में सभी प्रकार के सभी सुखों का परमानन्द रूप में उद्घाटन सदा सर्वदा के लिये सुख और शान्ति का प्रसंग बनाता है। जिन आत्माओं ने अपने परम पुरुषार्थ के बल पर अपने परिपूर्ण स्वरूप को विकसित कर लिया, उन आदर्श आत्माओं को लक्ष्य में रख करके संसार में रहने वाली आत्माएं संसार के घोर दुःखों के झंझावतों से अपने आपको मुक्त बना सकती हैं। ये संसारी आत्माएं शुभ ज्ञान और विवेक की दृष्टि से यदि अपनी वर्तमान दशा पर दृष्टिपात करें तो वे अनुभव कर सकती हैं कि वे संसार के इन घोर दुःखों में छटपटा रही हैं और अन्तःकरण से वे इन सारे कष्टदायक बन्धनों से छूट कर परम पद को प्राप्त करना चाहती हैं।

अपने वर्तमान स्वरूप की तरफ दृष्टिपात करने वाली आत्माएं अपने समीपवर्ती सुज्ञानियों से प्रश्न करती हैं कि परमात्म स्वरूप के तुल्य उनका स्वरूप वर्तमान में नहीं है, उसमें स्पष्ट रूप से भारी अन्तर दिखाई देता है। जिसका क्या कारण है? ज्ञानीजन इस वर्तमान दुर्दशा के कारण भी बताते हैं तथा संकेत भी देते हैं कि भिन्न भिन्न कर्मों के बन्धनों की दृष्टि से परमात्म स्वरूप और संसारी आत्माओं के स्वरूप में अन्तर है तो भिन्न-भिन्न आत्माओं के स्वरूपों में भी परस्पर अन्तर हैं। यह अन्तर उसके कारणों को समझ कर उन कारणों को दूर करने से ही मिटाया जा सकता है। इसके लिये सतत पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है और पुरुषार्थ सतत रूप से कार्यरत तभी बना रह सकता है, जब उस समय सतत रूप से अप्रमत्त स्थिति बनी रहे इसलिये प्रमाद कहीं भी नहीं होना चाहिये और कभी भी नहीं होना चाहिये।

अन्तर का कारण है अशुद्धता :

आत्मा और परमात्मा के स्वरूपों में अन्तर पड़ा, उसकी वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा स्वरूप अपनी अशुद्धता के सम्पूर्ण परिमार्जन से प्राप्त हुआ तथा संसारी आत्मा के स्वरूप में न्यूनाधिक रूप से वह अशुद्धता बराबर बनी हुई है। परमात्म स्वरूप अपनी परम शुद्ध अवस्था में पहुंच जाता है तो संसारी आत्मा कर्मों को अशुद्धता से बन्धी हुई रहती है और यह कर्म बन्धन की अशुद्धता आत्मा के स्वभाव और उपयोग को अशुद्धता से पैदा होती रहती है। बाहर की दृष्टि शुद्ध स्वरूप से परे होती है और इस जीवन की मूल दृष्टि जब तक बाहर की दृष्टि से जुड़ी हुई रहती है, तब तक आन्तरिक दृष्टि का परिपूर्ण रूप से विकास नहीं हो पाता है। दोनों प्रकार के स्वरूपों में मूलतः यही अन्तर होता है तथा इसी अन्तर को मिटा लेने पर यही आत्मा परमात्म स्वरूप का वरण कर लेती है।

कवि ने प्रार्थना की पंक्तियों में इसी सत्य को भव्यजनों के समक्ष प्रकट किया है-

यूं जिन कारणे हो अन्तर तुज पडचो रे,

गुण कारणे करि भंग ।

ग्रन्थ उक्ते करि पंडित जने कह्यो रे,

अन्तर अग सुअग ॥

जिन कारणों से दोनों स्वरूपों के बीच में वर्तमान में जो अन्तर दिखाई दे रहा है, उन कारणों को समाप्त करना चाहिये । फर्क इतना ही है कि एक का शरीर तो मैला और दुर्गन्धपूर्ण है तथा दूसरे का शरीर पूर्ण निर्मल तथा सुअंग के रूप में है और इस कारण यह फर्क मात्र मलीनता का है । मैल को पूरी तरह साफ कर लें तो फिर कोई अन्तर नहीं रहे ।

जब किसी वस्तु का संयोग होता है तो जिसके साथ उसका संयोग होता है, उसका ध्यान उस पदार्थ की ओर चला जाता है । वह उस पदार्थ तथा उसके संयोग को देखने लगता है और बहुत दिनों तक देखते-देखते वह उस पदार्थ के स्वरूप में इतना आसक्त हो जाता है कि वह अपने स्वरूप को भूला देता है-पदार्थ के स्वरूप में ही लीन हो जाता है । उसकी आन्तरिकता में इस प्रकार जो आसक्ति और लिप्तता फैल जाती है, वही उसकी अशुद्धता है । शुद्ध होता है आत्मा का स्वरूप और जब उस स्वरूप को पदार्थ के परस्वरूप से ढक दिया जाता है तो वह शुद्ध स्वरूप धूमिल पड़ जाता है-कभी-कभी इतना धूमिल कि मूल स्वभाव की अदृष्टि और विस्मृति दोनों हो जाती है । तब समझना चाहिये कि उस आत्मा के स्वरूप पर मलीनता का मोटा आवरण चढ़ गया है । वह बाहर के ही पदार्थों को देखता है, उन्हीं को ममत्व की दृष्टि से अपना मान लेता है तथा उन्हीं की प्राप्ति के लिये अपनी समस्त आत्म-शक्तियों का अपव्यय करने लग जाता है । वह अपने आपको भूला करके उन बाहरी पदार्थों को ही सब कुछ और सारपूर्ण मान बैठता है ।

### आत्म विस्मृति की अवस्था :

एक दुकानदार अपनी दुकान पर विविध वस्तुओं को लेकर बाजार के बीच में बैठता है । ग्राहक दुकान पर पहुंचता है और वस्तुओं पर दृष्टि डालता है । उन वस्तुओं में से एक ऐसी वस्तु उसको दिखाई देती है जिसकी तरफ वह आकर्षित होता है । वह उस वस्तु को अपने हाथ में उठा लेता है । हाथ के साथ उसकी दृष्टि का और वस्तु का गहरा संयोग होता है । वह उस वस्तु को गौर से देखता है और देखते-देखते वह अपने आपको भूल जाता है तथा वस्तु के स्वरूप में ही लीन हो जाता है । वह यह भी भूल जाता है कि वह कहां खड़ा है, किसकी दुकान पर खड़ा है ? उस वस्तु को देखने के उपयोग में अपने खड़े रहने के उपयोग को भी भूल जाता है । जब तक उस वस्तु का आकर्षण उसके उपयोग में बना रहता है तब तक वह उस वस्तु को देखता रहता है । किसी कारण वह उस स्थान से हट भी जायेगा, लेकिन यदि उस वस्तु का आकर्षण उसके मस्तिष्क में बना रहेगा तो उस वस्तु का उपयोग भी उसके मस्तिष्क में बना रहेगा । ऐसी बाह्य पदार्थों के प्रति इस आत्मा के उपयोग की अवस्था होती है ।

ऐसा ही हाल इस आत्मा के समस्त उपयोग का बना हुआ है । दुकान की वस्तु के प्रति उस उपयोग की अवस्था तो एक अस्थायी अवस्था थी । लेकिन अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण और रमण करते हुए इस आत्मा के उपयोग की बाह्य पदार्थों में आसक्ति की अवस्था स्थायी जैसी हो गई है । अस्थायी अवस्था में तो वस्तु हाथ में आई तो आकर्षण पैदा हुआ तथा हाथ से गई तो आकर्षण टूट गया । लेकिन इस आत्मा ने अनादिकाल से आत्मिक स्वरूप से भिन्न जो सांसारिक पदार्थ हैं, उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है और उस सम्बन्ध में यह आत्मा इतनी लीन अथवा इतनी लिप्त बन गई है कि वह अपने आपको समझना ही भूल गई है तथा उन बाहरी वस्तुओं को ही सब कुछ तथा अपने लिये प्राप्य समझ कर चल रही है ।

अभी इस मानव जीवन में भी वही बात दिखाई दे रही है । मनुष्य की आत्मा जिस शरीर के साथ सम्बन्धित है, वह उसी को सब कुछ समझ रही है । आप सब मनुष्य हैं और यहां पर बैठे हुए हैं । इस वक्त आपकी आत्मा का ध्यान मेरी ओर है तब तो आप मेरी बात सुन रहे हैं । मेरी बात जैसे ही आपके उपयोग से हटी कि आपका ध्यान अपने शरीर की ओर जायगा । शरीर आपको अत्यन्त प्यारा है । इस शरीर के संरक्षण का आप यत्न कर रहे हैं । इस शरीर को कष्ट भी इसी शरीर की साल-सम्भाल के लिये दिया जा रहा है । क्योंकि यह शरीर इस आत्मा के साथ संयुक्त है । यह एक संयोग है और इस संयोग का सूक्ष्म रूप कर्म है, जिसको सूक्ष्म शरीर भी कह सकते हैं । सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से बड़ा सहारा मिलता है । और इस शरीर के साथ बाह्य पदार्थों की तरफ आत्मा का उपयोग लगा रहता है जिससे उसकी आत्म-विस्मृत अवस्था बनी रहती है ।

### कर्म का छोटा-सा बीज:

वटवृक्ष याने बड़ले के बीज को आपने देखा होगा-राई से भी छोटा होता है और बड़ला तो आप जानते ही हैं कि कितने विशाल क्षेत्र में एक ही पेड़ फैल जाता है ? प्रत्येक वृक्ष का बीज छोटा ही रहेगा । लेकिन जब वही छोटा-सा बीज अंकुरित होकर बढ़ जाता है तो विशाल वृक्ष का रूप ले लेता है । वैसे ही मनुष्य का शरीर बड़ा दिखाई दे रहा है लेकिन इसका बीज भी छोटा-सा ही होता है । यह कर्म का छोटा-सा बीज होता है । जिसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं , वह इन कर्मों का समूह ही होता है जो कर्मण वर्गणा के

पुद्गलों से बना होता है । यही सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का निर्माता होता है । यह स्थूल शरीर इन कर्मों के संयोग से ही मिलता है ।

कर्म के छोटे से बीज के संयोग से यह शरीर रूपी वृक्ष फलीभूत हो गया । लेकिन इसके मिलने के साथ ही साथ यह आत्मा पुनः इस शरीर के संयोग से कर्मों के नये-नये बीज तैयार कर रही है । इस शरीर का तात्पर्य मनुष्य योनि के शरीर से ही हो - ऐसी बात नहीं है । यह आत्मा इस मनुष्य शरीर में रहकर भी किसी भी योनि का बीज हो सकता है । देवयोनि का दिव्य शरीर धारण करने का बीज भी मनुष्य योनि में पैदा किया जा सकता है तो पशु योनि या नरक योनि का बीज भी बोया जा सकता है ।

कर्मों का बंधन किस-किस रूप में होता है-इसका प्रत्येक व्यक्ति को समग्र रूप से ज्ञान नहीं होता है । साधारण व्यक्ति यही समझता है कि हम जैसा कार्य करते हैं वैसा ही कर्मों का बन्धन होता है- उसके विवरण और विश्लेषण को वह नहीं जानता है । क्रोध, मान, माया लोभ आदि की सभी वृत्तियां कर्म बन्धन का कारण होती हैं और इस प्रकार की वृत्तियां प्रमाद के अन्तर्गत उत्पन्न होती है । कर्म बंधन के जो पांच कारण बताये गये हैं- मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय और योग, इनमें यह प्रमाद तीसरे क्रम पर है । कर्मों का छोटा -सा बीज इन पांच कारणों का खाद पाकर वटवृक्ष के रूप में परिवर्तित हो जाता है । तब ये पांचों कारण इतने सशक्त हो जाते हैं कि इनको समाप्त करने में कठिनतम पुरुषार्थ को लगाना पड़ता है । इस दृष्टि से जितना जल्दी विवेक जागे उतनी ही जल्दी इन कारणों को समाप्त करने का पग उठा लिया जाना चाहिये । ये पांचों कारण आत्मा के शुद्ध स्वरूप के प्रधान शत्रु हैं- अरि हैं । और शत्रुओं की शक्ति को कभी भी बढ़ने नहीं देना चाहिये । बाहर के शत्रुओं को छोड़िये ये भीतर के शत्रु बड़े दुर्दान्त होते हैं, इन पर विषय प्राप्त करना बड़ा दुसाध्य होता है । इसी कारण इन आत्म शत्रुओं को पराजित कर देने के बाद यही आत्मा परमात्म-स्वरूप को ग्रहण कर लेती है तथा उन्हीं परमात्मा को अरिहन्त कहते हैं ।

कर्मों के छोटे से बीजों को जहां तक हो बीज रूप में ही नष्ट कर दीजिये और यदि वे अंकुरित हो गये हैं तो वृक्ष को बढ़ने मत दीजिये । इस कार्य में जितनी शीघ्रता की जाती है, उतनी ही शीघ्रता से आत्म शुद्धि का विकास होता है ।

## प्रमाद कहां होता है और किन-किन रूपों में होता है :

कभी-कभी मनुष्य सोचता है कि मैं बैठा हुआ हूं और आलस्य चल रहा है, इस कारण यह प्रमाद है । लेकिन ज्ञानीजन कहते हैं कि जब आलस्य नहीं किया जा रहा है-कुछ न कुछ पुरुषार्थ किया जा रहा है, तब भी प्रमाद हो सकता है । सोते रहना ही प्रमाद नहीं है, जागते हुए भी प्रमाद हो सकता है । खाना खाते हुए भी प्रमाद हो सकता है-तथा खाना नहीं खाते हुए भी प्रमाद हो सकता है । कोई बोल रहा है और सोच-समझ कर कथन कर रहा है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि वह प्रमाद का सेवन कर रहा है । ज्ञानीजनों ने प्रमाद के मद, विषय, कषाय आदि भेद किये हैं । जिसने आत्मा का ध्यान नहीं रखा, केवल अपने शरीर के बल पर कोई काम किया तो वह प्रमाद है । आत्मा का ख्याल नहीं है तथा चोटी का पसीना एड़ी तक बह रहा है, फिर भी वह प्रमाद ही कहा जायेगा ।

इस तरह जहां भी आत्मा अपने स्वरूप तथा स्वभाव से हट कर कोई भी प्रवृत्ति करती है, वह प्रवृत्ति होते हुए भी प्रमाद है । पुरुषार्थ हो, लेकिन वह अप्रमत्त होना चाहिये । प्रमादहीन पुरुषार्थ तभी कहलायेगा जब वह पुरुषार्थ आत्मा के स्वभाव एवं स्वरूप के विकास के हित में नियोजित किया जायेगा । इस तरह से प्रमाद भिन्न-भिन्न रूपों में होता है तथा उन सभी स्थानों पर होता है, जहां आत्मा का उपयोग अपने प्रति नहीं बल्कि शरीर के प्रति और बाह्य पदार्थों के प्रति कार्यरत रहता है। सतत आत्मार्थी हो अप्रमत्त दशा को परिपूर्ण रूप से प्राप्त कर सकता है ।

कोई किसी से पूछता है कि आप कौन हैं ? वह ब्राह्मण होता है तो उत्तर देता है कि मैं ब्राह्मण हूं । तभी उसके मन में ख्याल आता है कि ब्राह्मण जाति सर्वश्रेष्ठ है और इस नजर से मेरे से बढ़कर दूसरी जाति के लोग श्रेष्ठ नहीं है । इस रूप में वह जाति के अभिमान से ग्रस्त होता है । इसी तरह से क्षत्रिय, वैश्य, ओसवाल, अग्रवाल आदि लोग अपनी-अपनी जाति का अभिमान करते हैं । प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र-ये चार वर्ण बने थे और इन्हीं के अन्तर्गत जातियां तथा उपजातियां बनी हैं । उस वक्त शूद्रों में मद का प्रसंग नहीं था, बाकी तीनों वर्णों के लोगों में मद की भावना रहती थी कि वे बड़े हैं । यह जाति मद भी प्रमाद का एक रूप होता है । छुपाछूत की जो भावना है, उससे भी जाति मद ही फूटता है ।

तीर्थंकरों ने जाति मद् का बहिष्कार किया और अप्रमत्त बनने के लिये जाति मद् को छोड़ने का निर्देश दिया । उन्होंने जातियों का आधार कर्म को माना और घोषित किया कि -

**कम्मुणा बंभणो होई,  
कम्मुणा हवई खत्तियों ।  
वइसो कम्मुण होई,  
सुद्धो कम्मुणा हवई ॥**

कर्म करने के आधार से ही किसी को ब्राह्मण कह सकते हैं तो किये जाने वाले कर्म के अनुसार ही क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होते हैं । यदि ब्राह्मण होकर कोई नीच काम करता है तो वह शूद्र की गिनती में आयेगा तथा श्रेष्ठ जीवन जीने वाले शूद्र को ब्राह्मण की संज्ञा दी जा सकती है । यह जाति जन्म से नहीं कम से सिद्ध होनी चाहिये । जाति-मद् नहीं रहेगा तभी प्रमाद नहीं होगा ।

**जितना जाति मद्,**

**उतना प्रमाद :**

जहां जाति की योग्यता नहीं है और जाति का मद् है, वहां प्रमाद फैला हुआ है-यह मानकर चलिये, क्योंकि जाति की सही योग्यता उपलब्ध होगी तो वहां तत्सम्बन्धी प्रमाद का अस्तित्व नहीं मिलेगा । दूसरे, जाति का मद् उन्हीं लोगों में फैलता है, जो जाति को जन्म की दृष्टि से मानते हैं । यदि कर्म की दृष्टि से जाति को मानें तो वह मानना कर्माधारित होगा तथा उसमें मद् का फैलाव नहीं होगा । अच्छे काम करने से ही ऊंची जाति कहलायगी तो वहां जाति मद् के होने का सवाल ही नहीं उठता है । जहां सारी अच्छाइयां हैं, वहां भला मद् की बुराई कैसे टिकी रह सकेगी ?

नीची श्रेणी का व्यक्ति उच्च कर्म करता है तो वह ब्राह्मण की कोटि में आ जाता है । ऊंची और नीची श्रेणी का मापदण्ड कर्म होगा और श्रेष्ठ कर्म वह जो आत्मा की दृष्टि से शुभ हो । बाहरी पदार्थों को उठाने से उसका सम्बन्ध नहीं है । आप सोचते हैं कि हरिजन अशुचि उठाते हैं इसलिये नीच कहलाते हैं और जो अपने हाथ से अशुचि नहीं उठाते, वे ऊंची श्रेणी वाले कहलाते हैं । यह नीच ऊंच की धारणा विवेक और ज्ञानपूर्ण नहीं है । अगर अशुचि उठाने मात्र से अस्पृश्यता होती है तो क्या आप अपनी माता को अस्पृश्य मानेंगे ? जब आप छोटे थे तब आपकी माता ने आपकी अशुचि कितनी बार उठाई होगी, बल्कि कई बार रसोई करते-करते या खाना खाते-खाते तक उठाई होगी । जिस चौके को ब्राह्मण एकदम पवित्र मानते हैं और किसी को भीतर घुसने तक नहीं देते क्या उसमें बच्चा अशुचि नहीं कर देता है ? अशुचि उठाना तो एक दृष्टि से सेवा का कार्य है तथा सेवा का कार्य करने वाले को शूद्र कहें तथा उसको अस्पृश्य मानें-यह तो कोई न्याय की बात नहीं है ।

सेवा तो सदा अप्रमत्त भावना से होती है और जो सेवा करने वालों के प्रति दुर्भावना व्यक्त करता है, वह भी एक प्रकार से प्रमाद का प्रकटीकरण ही कहलायेगा । इस प्रमाद के वशीभूत होकर ही लोग अपनी गलत धारणा बनाते हैं । दुर्गुणों के कारण तो किसी को अछूत मान सकते हैं -जरूरी नहीं कि वैसा अछूत शूद्र वर्ण में ही हो, वैसा अछूत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-इन तीनों वर्णों में से भी अपने दुर्गुणी जीवन के कारण हो सकता है । दुर्गुणी होने के कारण भी किसी को अछूत क्यों माने-क्योंकि हमारी भव्य संस्कृति में तो कहा गया है कि घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश, इसलिये दुर्गुणी व्यक्ति को भी पास में लेकर सदगुणी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये । लेकिन जाति की दृष्टि से किसी को नीच या अछूत बताना भयंकर प्रमाद है ।

**सद्गुण और दुर्गुण के आधार पर**

**प्रमाद का मूल्यांकन :**

एक बहुत बड़े शहर के बाजार के बीच में एक झंझट खड़ा हो गया । झगड़ा था एक पण्डित जी और महारानी में । लोगों की भीड़ देखने के लिये इकट्ठी हो गई और देखने वालों के दो पक्ष हो गये । एक पक्ष कहने लगा, देखो, हम इसको ब्राह्मण जाति का होने से पंडित और सदगुणी समझते थे, लेकिन यह तो दुर्गुणी दिखाई दे रहा है । इसने अपना अनुचित सम्बन्ध इस हरिजन स्त्री से बना लिया है । वह हरिजन स्त्री झाड़ू लिये हुए पास में खड़ी थी । वह ब्राह्मण से कह रही थी-अब तो आप मेरे पति हैं, मुझे छोड़

नहीं सकते हैं । दूसरा पक्ष कह रहा था कि यह सब गलत है । यह तो ब्राह्मण होकर पर स्त्री को माता समझ कर चलने वाला है । आखिर हंगामा बहुत बढ़ गया और मामला न्यायाधीश के सामने पेश हुआ ।

न्यायाधीश ने उस हरिजन स्त्री से पूछा बाई, तू सच-सच बता कि इस ब्राह्मण ने क्या तेरे साथ कोई दुर्व्यवहार किया है ? उसने कहा मैं और कुछ क्या कह सकती हूँ, ये ब्राह्मण मेरे पति रूप है । न्यायाधीश ने तब पंडित से पूछा-सही मामला क्या है, आप बताइये । पंडित बोला श्रीमान्, मैं सच कह रहा हूँ कि यह मुझ पर झूठा लांछन लगा रही है । मैंने इसके साथ कुछ भी नहीं किया, मैं तो इसको जानता भी नहीं हूँ । मैं नित्य नियम के अनुसार स्नान करके आ रहा था कि इसने कोई अशौच पदार्थ मेरे पर गिरा दिया तो मैंने इसको डांटा । इसने मुझ पर कंकर फेंका और मुस्कराने लगी । मैंने कड़क कर कहा-तू निर्लज्ज है । बस फिर यह बकवास करने लगी और भीड़ इकट्ठी हो गई । यह मेरा हाथ पकड़ने लगी, मैंने हाथ नहीं पकड़ने दिया । इसके अलावा मैं कुछ नहीं जानता हूँ ।

उस हरिजन स्त्री से न्यायाधीश ने फिर पूछ-बहिन, सच-सच बता कि बात क्या है ? तब वह बोली न्यायाधीश महोदय, आप ही न्याय करिये । मैं अशुचि उठाने के कारण शूद्र कहलाती हूँ । मैं अपना सेवा का कार्य करती हूँ । मैंने इस ब्राह्मण देवता पर कोई अशौच पदार्थ नहीं गिराया झाड़ू लगाते रहने से कोई धूल के कण इनको लग गये होंगे । लेकिन ये तो क्रोध से आगबबूला हो उठे । मैंने महात्मा के मुख से सुन रखा था कि क्रोध चांडाल होता है । मैं चंडालन कहलाती हूँ, क्रोध करने से ये चंडाल हो गये तो क्या मेरे पति नहीं बन गये ? इसलिये मैंने इनका हाथ पकड़ने की कोशिश की, लेकिन मैंने क्रोध नहीं किया-मैं तो मुस्कराती ही रही ।

इस रूपक से सोचिये कि क्या जन्म से किसी को चंडाल -चंडालन मानें या कर्म करने के आधार पर ? वह ब्राह्मण चंडाल बना या वह चंडालन ब्राह्मणी हो गई-इसका निर्णय आप निकालें । यह अन्तर्निरीक्षण की बात है । तथा प्रमाद का निर्णय भी सद्गुण और दुर्गुण के आधार पर ही निकाला जा सकेगा, उसी के अनुसार प्रमत्त अथवा अप्रमत्त अवस्था का मूल्यांकन किया जा सकेगा ।

### आत्मा को देखो :

ज्ञानीजनों का कथन है कि निरन्तर अपनी आत्मा को देखते रहो- आत्म-स्वरूप का ध्यान रखो तो प्रमाद की समाप्ति होती जाती है । अन्तर्मुखी दृष्टि बन जाने पर आत्म-स्वरूप की तरफ केवल ध्यान ही नहीं रहता है बल्कि उस स्वरूप परिमार्जन के लिये अपना पुरुषार्थ भी नियोजित होता है । ऐसा जो पुरुषार्थ लगता है तो प्रमाद घटता है । ज्यों-ज्यों पुरुषार्थ में प्रखरता आती है तथा आत्म-स्वरूप की शुद्धता बढ़ती है तो अप्रमत्त अवस्था का विकास होता चला जाता है । आत्मा को देखते रहें तो अप्रमत्त अवस्था में चलने का क्रम बन जाता है ।

किसी भी शक्ति के प्रति भेद है या मान है या मद तथा अन्य विकार झूठे आधारों पर भी फलफूल रहे हैं तो वैसी सारी दशा को प्रमाद ही कहेंगे । इसलिये प्रमाद के कारण रूप मद, मान और दूसरे विकारों को दूर किया जाना चाहिये । जो प्रमाद को हटाता है, वह अप्रमत्त स्वरूप में जाता है । अप्रमत्त स्वरूप आत्मा के मूल स्वभाव का अंग माना गया है, जिससे कर्मों के बन्धनों का क्षय होता है ।

देखा अभी आपने इन तरुणियों को ? इन्होंने अपनी बात बताई । दुर्ग संघ के मुखिया इस सिलसिले में आये हुए हैं । इन बहिनों ने अपनी प्रतिज्ञा दोहराई तथा परिवार वालों के आज्ञा-पत्र भी दिये । ये तरुणियां दीक्षित होना चाहती हैं । इनके मन में यह भावना क्यों जगी ? बहुतेरी बहिनें इनके समान युवतियां हैं जिनके लिये दीक्षा की बात तो दूर-धर्म स्थान पर पहुंचना भी कठिन होता है । उनको तो अपनी रंगरेलियां चाहिये । लेकिन मैं चेताता हूँ कि वे भूली हुई हैं । जो बाह्य पदार्थों में भूला हुआ रहता है, उसके पास चाहे जितनी सम्पत्ति और शिक्षा हो लेकिन उसके लिये यही कहा जायगा कि वह आत्म विस्मृत है-अपने आपको भूला हुआ है और वहां प्रमाद की मौजूदगी है । जहां प्रमाद है, वहां पांचों इन्द्रियों के विषय-भोग की लालसा ही अधिक रहती है । प्रमाद की मौजूदगी में उनका ध्यान त्याग की ओर नहीं जाता है ।

ये तरुणियां अभी रंगबिरंगी पोषाक में थीं, लेकिन वे साधु की श्वेत पोषाक धारण करके महावीर के शासन की शोभा बढ़ाने के लिये तत्पर हो रही हैं । ऐसे कई तरुण-तरुणियां आपके समक्ष इस संस्था में प्रविष्ट होकर आत्म कल्याण की दृष्टि से अप्रमत्त अवस्था में पहुंच कर कर्मों के बन्धनों को तोड़ना तथा परमात्मा के समीप में पहुंचना चाहते हैं । इस विषय में कुछ विशेष क्रान्तिकारी कदम आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. ने उठाया था और तब से एक आचार्य की नेश्राय में शिष्य परम्परा का विकास हुआ क्योंकि

आचार्य पद स्थायी रहता है-केवल व्यक्ति आता है और जाता है । इसलिये आचार्य पद तीर्थकरों के शासन की एकता का द्योतन करने वाला है । इसलिये सारे साधु-साधवी केन्द्रीयकरण में रहें अर्थात् एक ही आचार्य की नेश्राय में सब दीक्षा लें-एक ही आचार्य के सभी शिष्य कहलावें तो संघ-एकता का अनूठा रूप उपस्थित होता है । इससे बीमार व वृद्ध सन्तों की सेवा व्यवस्था भी सुचारु रूप से हो सकती है तो नव-दीक्षितों को अध्ययन मनन का भी सुन्दर अवसर मिल जाता है । यह सब प्रयास प्रमाद को त्यागने का तथा आत्मा की तरफ सतत लक्ष्य रखते हुए अप्रमत्त अवस्था में पहुंचने का है । प्रमाद कहीं भी नहीं आवे-कभी भी नहीं आवे ।

प्रमाद छूट जायगा,  
तो निर्विकारी स्वरूप समीप आ जायगा :

आत्म-स्वरूप पर चढ़ रहे कर्मों के कर्जों का विवरण आपको याद होगा । पांच कारणों में से पहले तीन कारण-मिथ्यात्व, अव्रत तथा प्रमाद छूट जाते हैं तो कर्जों की कुल रकम 12345 में से केवल 45 ही चुकाने पड़ते हैं । यह फिर मामूली राशि है और इन तीन कारणों की समाप्ति के बाद बाकी के दोनों कारणों-कषाय और योग को समाप्त कर देना अधिक कठिन नहीं रहता है । इसलिये प्रमाद की समाप्ति के साथ ही आत्मा निर्विकारी स्वरूप के समीप चली जाती है और जो निर्विकारी स्वरूप है, वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है । जितना कर्मों का मैल है वह विकारों के सेवन से आत्मा-स्वरूप पर लगता है और इस मैल से छुटकारा पालें तो फिर आत्मा का उद्धार सुनिश्चित हो जाता है ।

मानव-जीवन की इसी में सार्थकता है कि अशुद्धता के रूप में आत्मा और परमात्मा के स्वरूपों में जो वर्तमान में अन्तर हैं, उसको निरन्तर घटाते रहने का शुभ प्रयास किया जाय ।

गंगाशहर-भीनासर  
दि. 27-8-77

## अन्तर्दर्शन

चेतना का विकास कैसे हो सकता है। यह चेतना शक्ति इसी आत्मा की शक्ति है। विकास के लिए अन्तर्दर्शन की आवश्यकता है। अन्तर्दर्शन से ही अन्तर्चेतना जगेगी। मनुष्य अनीति का आचरण धन कमाने के लिए करता है। जो व्यक्ति छल-कपट से जीते हैं। उनकी आत्म साधना भी कपटमय होती है। एक व्यक्ति धर्म करणी का मूल्यांकन करता है और दूसरा व्यक्ति धर्म करता है। फल की कामना बंधन कारी होती है। आप अन्तर्दर्शन का अभ्यास कीजिये। मालूम होगा कि रात-दिन कितने बुरे विचार आते रहते हैं।

आप परमात्मा को, गुणी जनों को संत पुरुषों को नमस्कार करने की स्थिति में होंगे। अच्छी भावनाओं से नमस्कार करते होंगे। उस समय बुद्धि में निर्मल ज्ञान तंतु आये बिना नहीं रहेंगे। सन्तों के दर्शन के समय तो शुभ भावों का प्रवाह चलेगा। तब पाप पूर्ण भाव रुक जायेगे। मन-पाप से रुक जायेगा और अन्तर्दर्शन होने लगेगा। कर्मों की निर्जरा के बिना-माया-मोह से छुटकारा पाये बिना अन्तर्दर्शन नहीं हो सकता। इसके लिए आत्मा की ओर ध्यान केन्द्रित होना आवश्यक है। आत्मा ही शरीर का अलंकरण है जो जीव को सच्चायी का भाव कराता है।

आजकल अपने घर के जीवन का ध्यान किसी को नहीं है। दूसरों के घर की गन्दगी का ही ध्यान है। यह क्यों? इस विचार चिन्तन के अभाव में ऐसा होता है। और वीतराग वाणी के ज्ञान के अभाव में ही ऐसा होता है। सत्य-सत्य है। सत्य को कोई असत्य नहीं कर सकता।



**मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्म रमण, साधना, स्वाध्याय, और आत्म चिन्तन आवश्यक है। शुद्ध मन से, विचार से, भावों से की जाने वाली क्रिया ही मोक्ष देने वाली है। किन्तु सबसे पहले कर्मों का भार हटाना है।**

**श्री सुपाशर्व जिन वंदिए.....**

भव्य जनों की शुभ भावनाओं का अनुभव लेकर कवि आनन्दधन जी ने परमात्मा की प्रार्थनाओं की रचना की है। कभी-कभी प्रार्थनाओं का प्रवाह परमात्मा की स्थिति के प्रसंग से दोनों तरफ बहता है। नदी अपने दोनों तटों को हरा-भरा करती हुई चलती है। दोनों तटों की शोभा बढ़ाती हुई ही वह समुद्र की ओर प्रगतिशील बनती है। वैसे ही इस जीवन में यदि आध्यात्मिक चेतना का समुचित रूप से विकास हो जाय तो वह चेतना शक्ति भी नदी की ही तरह जीवन के दोनों तटों को हरा-भरा एवं शोभास्यद बनाती हुई वीतरागता के समुद्र में अन्तर्निहित हो जायगी। ये दोनों तट बाहरी और भीतरी जीवन के रूप में अथवा इहलोक एवं परलोक की स्थिति के रूप में माने जा सकते हैं।

किन्तु इस चेतना का विकास कैसे होगा ? यह चेतना शक्ति इसी आत्मा की शक्ति है जो सांसारिकता में लिप्त होने से आध्यात्मिक मार्ग की तरफ से सुषुप्त सी बनी हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि से जागृति हो तभी उसका तदनुकूल विकास सम्पादित किया जा सकता है। ऐसे विकास के लिये अन्तर्दर्शन के अभ्यास की आवश्यकता होती है। कारण, अन्तर्दर्शन होगा तभी अन्तर्चेतना के स्वरूप की परीक्षा हो सकेगी एवं उस स्वरूप की जागृति अन्तर्दर्शन के परिपुष्ट अभ्यास से ही सम्पन्न होगी।

**जीवन की रिक्तता**

आज के मानव के समक्ष इस लोक की समस्याएं विशेष रूप से मुंह फाड़ कर खड़ी रहती हैं। मनुष्य यह चाहता है कि मेरा यह दृश्य जीवन, जिसके अन्दर मैं जी रहा हूं, जिस परिवार में मेरा रहना हो रहा है, जिस समाज के बीच में मैं चल रहा हूं और जिस राष्ट्र के साथ मेरा सम्बन्ध है, उन सभी स्थानों के ऊपर प्रतिष्ठित रहूं। मेरी पहुंच सभी स्थानों पर हो। मैं इन कार्यों को करता हुआ कभी भी किसी से दबू नहीं और सर्वत्र मेरी प्रशंसा हो। यह प्रशंसा प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की भावना साध्य रूप नहीं, लेकिन शुभ उद्देश्यों की पूर्ति के साधन रूप हो तो उस भावना से जीवन में सेवा, सहयोग और सत्कार्य बनते हैं।

किन्तु मनुष्य की यह भावना भी धन और वैभव प्राप्त करने के उद्देश्य जैसी होती है कि किसी भी तरह प्रशंसा प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त हो। इसके लिए वह जैसी अनीति का आचरण धन कमाने के क्षेत्र में करता है वैसे ही अनीति का आचरण वह इस क्षेत्र में भी करना आरंभ कर देता है। कीर्ति का बाहरी आवरण इस रूप में खड़ा कर दिया जाता है-जैसे कि वह एक महान् पुरुष है। किन्तु कोई विवेकशील व्यक्ति उस महान् पुरुष के भीतर झांक कर देखे तो उसके जीवन का खोखलापन साफ दिखाई दे जाता है।

इस तरह अनीति पर आधारित करके जो व्यक्ति वंचनापूर्ण जीवन जीते हैं, वे सामान्य रूप से समाज में विविध प्रकार की समस्याएं खड़ी कर देते हैं। धनार्जन और यशार्जन के क्षेत्रों में ऐसी फर्जी कार्यवाहियों से सामान्य जन के लिये कई तरह की समस्याएं पैदा हो जाती हैं, वे ही इहलोक की लौकिक समस्याएं हैं। इन लौकिक समस्याओं से आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कई कठिनाइयां सामने आती हैं और उनका हल निकाले बिना आत्मोन्नति का मार्ग निष्कटक नहीं बनता है।

पहले पहल तो मनुष्य धनार्जन और यशार्जन के क्षेत्रों में नीति के अनुसार प्रयत्न और पुरुषार्थ करता है, किन्तु ऐसा करने पर भी दुनियां की आपाधापी में जब उसको इच्छानुसार फल नहीं मिलता है तो वह भी उस आपाधापी में शामिल हो जाना चाहता है तथा नीति को छोड़ कर अनीति के मार्ग पर चल पड़ता है। नीति पर चलते हुए वह अनुभव करता है कि उसके जैसे लोगों की संख्या और उनका प्रभाव बहुत कम है और इसी कारण वह अपने या अपने परिवार जनों के अभावों को पूरा नहीं कर पाता है। कभी-कभी तो परिवार के सदस्य भी उसका निरादर करने लगते हैं-समाज और राष्ट्र में आदर पाना तो दूर की बात होती है। वह देखता है कि सभी जगह वे ही लोग आदर पाते हैं और उन्हीं की कीर्ति में ज्यादातर चार चांद लगते हैं जो सम्पन्न होते हैं-इसका कोई विचार नहीं है कि वह सम्पन्नता उन्होंने कितनी अनैतिकता से प्राप्त की है ?

नीति पर चलते हुए उसको चारों और निराशा ही दिखाई देती है । सुख की बजाय पग-पग पर दुर्भाग्य सामने खड़ा हुआ मिलता है । नानाविध कठिनाइयां उसको घेर लेती है । तब उसके जीवन में रिक्तता प्रवेश करने लगती है । जो आत्मिक पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक अनुभव होता है, उससे उसका जीवन रिक्त बन जाता है । जीवन की उस रिक्तता में वह भी पागलों की दौड़ में शामिल हो जाता है और अनीति की कालिमा से अपने जीवन को रंगता हुआ आत्म विस्मृत बन जाता है । जीवन की ऐसी रिक्तता अत्यन्त भयावह होती है ।

### जागृति के सुनहले क्षण :

जीवन की भयावह रिक्तता में भी कभी चिन्तन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है तो भावना की अनुकूलता के साथ मनुष्य अपनी दुर्दशा पर चिन्तन करने लगता है। वह कुछ गहरे उतर कर सोचता है-मेरे जीवन की ऐसी दुर्दशा क्यों हो रही है ? यदि मैं, जैसा कि मुझे महसूस होता है मैं अभागा हूँ तो क्या यह मनुष्य जीवन दुर्भाग्य से मिलता है ? तब मैं दुर्भाग्यशाली तो नहीं ही हूँ । सद्भागी ही हूँ और शायद है, मैं अपने सद्भाग्य को ठीक से नहीं समझ पा रहा हूँ । इस मनुष्य जीवन में सभी आत्मिक शक्तियां होने को आतुर हैं मैं ही दुर्दशाग्रस्त बन कर उन्हें नहीं समझ पा रहा हूँ । मैं अपने भीतर केवल अभाव ही अभाव देख रहा हूँ रिक्तता महसूस कर रहा हूँ और जीवन का सही सूत्र नहीं पकड़ पा रहा हूँ । मुझे वह सूत्र पकड़ना होगा.....।

ऐसी चिन्तन धारा जब प्रवाहित होती है तो कभी-कभी उसमें भावनाओं की बाढ़ भी आ जाती है । उस बाढ़ में जीवन का बहुत सारा कचरा बह जाता है । कई महापुरुषों के जीवन हमारे सामने हैं जो इन भावनाओं की ऐसी उच्चतम कोटि में इतने जल्दी पहुंच गये कि चन्द्र क्षणों में ही उनके जीवन की समूची उज्वलता निखर उठी । जागृति के सुनहले क्षण ऐसे ही होते हैं । फिर उस जागृतिपूर्ण चिन्तन धारा से जीवन के दोनों तट हरितिमामय बनते हैं तो शोभादायक भी बन जाते हैं । ये दोनों तट बाहरी और भीतरी जीवन के होते हैं । जो इस प्रकार की चिन्तन धारा से सजल और सरस बन जाते हैं । यह जीवन सरस बनता है तो परलोक स्वयं ही सरस बन जाता है ।

जागृति के ऐसे सुनहले क्षण यदि स्वयं का विवेक जागृत बन जाय तो स्वयं की भावना से भी उत्पन्न हो सकते हैं तथा सन्त समागम से भी उत्पन्न होते हैं । जब मनुष्य सन्तों के समीप में पहुंचता है तो वह प्रभु की प्रार्थना तथा भगवान् की वाणी का श्रवण करता है । उस वाणी में उसका रस जमता है तो वह ज्ञान-चर्चा भी करता है तथा अन्तर्दर्शन की तरफ प्रेरित होता है । सन्त समागम जितना प्रभावशाली होता है, उतने ही रूप में वह अपनी भावनाओं को शुभता में ले जाता है तथा आत्मोत्थान के लिए पुरुषार्थ जुटाने का संकल्प बना लेता है । यह मोड़ उसके जीवन का सुखद मोड़ हो जाता है और वह धीरे-धीरे ही सही अपने जीवन की स्वस्थ बना लेता है । एक बार जो जागृति के क्षण जीवन में आते हैं, उनकी यदि सुरक्षा कर ली जाती है तथा तदनुसार परिवर्तन ले आया जाता है तो वे क्षण स्थायी बन जाते हैं । उनके स्थायित्व का अर्थ होता है आत्मा की सतत् जागृति और उस जागृति से परिपूर्ण शुद्धि ।

### प्रार्थना का प्रयोजन :

प्रार्थना में संकेत दिया गया है कि तू सुपाश्वर्चना भगवान् का वन्दन कर । आज के युग के व्यक्ति को प्रयोजन बतलाने की दृष्टि से पहली कड़ी में ही संकेत दे दिया है कि मैं जो वन्दन कर रहा हूँ, वह बिना प्रयोजन के नहीं है । इसके लिये कहा गया है कि-

**श्री सुपाश्वर्च जिन वंदिए,  
सुख सम्पत्ति नो हेतु-ललना,  
शान्ति सुधारस जल निधि,  
भवसागर मां सेतु-ललना**

देखिये, इसमें कहा है कि तू परमात्मा को वन्दन कर और वन्दन करने से तुझे फल मिलेगा । वह फल क्या है ? कहा जाता है कि साधक को फल की कामना नहीं करनी चाहिये, लेकिन फल की कामना किस रूप में नहीं करनी चाहिये-यह समझने की बात है । फल की कामना मांगनी या योजना के रूप में नहीं करनी चाहिये । इसके अन्तर को समझ लीजिये ।

एक व्यक्ति धर्म करणी का मूल्यांकन करता है और दूसरा व्यक्ति धर्म करणी करता है, लेकिन उसके मूल्य की कामना नहीं करता है। धर्म करणी का मूल्यांकन करने वाला जब वन्दन करने की स्थिति में आता है तो सोचता है कि मेरी धर्मकरणी का फल हो तो मुझे अमुक वैभव मिले, सन्तान मिले या अन्य प्राप्ति हो। ऐसी फल कामना उस धर्म करणी को बेचने के समान होती है। ऐसी फल कामना बंधनकारी होती है क्योंकि उसके द्वारा अमूल्य वस्तु को मूल्य के साथ बेच दी जाती है। एक चिन्तामणि रत्न किसी व्यक्ति को मिल जाता है और वह उसकी कीमत नहीं समझता है तो वह जौहरी के पास चला जाता है कि जितनी कीमत वह अपनी ईमानदारी से उचित समझे वह उस को दे दे। तब तो जौहरी सोचने पर बाध्य होगा लेकिन वह अगर यह कहे कि मुझ दस रुपये दे दो और यह टुकड़ा ले लो तो जौहरी सोचने पर भी बाध्य नहीं होगा और दस रुपये में चिन्तामणि रत्न खरीद लेगा। इसमें दोष खरीदने वाले का नहीं है, बेचने वाले का है। इसी रूप में धर्म करणी करने वाले भाई-बहिन यह भावना रख सकते हैं कि उसका उन्हें फल मिलेगा, लेकिन दस रुपये में चिन्तामणि रत्न बेचने की तरह धर्मकरणी को बेचने के लिए वे कीमत नहीं करें वे फल की यही भावना रखे कि उनकी आत्मा शुद्ध होगी, बाकी जो मिलेगा, वह अपार मिलेगा। लेकिन मांगनी या याचना नहीं होनी चाहिये।

परमात्मा की प्रार्थना का जो प्रयोजन बतलाया गया है वह यही है कि इससे सुख और सम्पत्ति मिलेगी लेकिन वह लौकिक नहीं, अलौकिक होगी तथा जिसकी सहायता से भवसागर में पुल बन जायगा याने कि परमात्मा स्वरूप कि दिशा में प्रयाण हो जायगा एवं शान्ति का अमृत पीने को मिलेगा। प्रार्थना का प्रयोजन कभी लौकिक वांछा रूप नहीं होना चाहिए।

## अन्तर्दर्शन का सुफल

धर्म करणी के फल को भी यदि जानना चाहे तो उसको ध्यान में रख लें। जो परमात्मा को नमस्कार किया जाता है—वह व्यर्थ में जाने वाला नहीं है। यह नमस्कार सुख सम्पत्ति का हेतु है। सुख सम्पत्ति का हेतु क्यों है? जब भी आप परमात्मा को, गुणी जनों को, सन्त पुरुषों आदि को नमस्कार करने की स्थिति में होंगे और सही भाव से नमस्कार कर रहे होंगे तो उस समय बुद्धि में निर्मल ज्ञान तंतु आये बिना नहीं रहेंगे कारण उस समय तुरन्त यह तुलना सामने आयेगी कि जिनको नमस्कार किया जा रहा है वे किस धरातल पर खड़े हैं और नमस्कार करने वाला किस धरातल पर खड़ा है? उस तुलना से प्रेरणा जागृत होगी। तब आत्मा की अशुद्धता और कर्मजन्य मलीनता को धोने का संकल्प पैदा होगा। संतों के दर्शन के समय तो शुभ भावों का प्रवाह चलेगा और तब पाप पूर्ण भाव रुक जायेंगे। मन पाप से रुकेगा तो सद्गुणों में रमेगा क्योंकि मन गति तो करता ही है। अगर उसको पाप की ओर जाने से रोक लेंगे तो उसकी गति धर्म की ओर ही बढ़ेगी।

आप अन्तर्दर्शन करने का अभ्यास कीजिये, फिर आपको विदित होगा कि कितने बुरे विचार रात-दिन आते रहते हैं तथा उनके दबाव से मन किस रूप में धर्म कार्यों से विमुख रहता है? पहले तो अन्दर देखने पर प्रकाश ही नहीं दिखाई देगा, क्योंकि वहां अंधकार भरा हुआ है, लेकिन ज्यों-ज्यों अभ्यास पुष्ट बनेगा और आप अन्दर को गहराई में उतरेंगे त्यों-त्यों आप वहां की स्थिति की देखकर विह्वल हो जायेंगे और विचार में पड़ जायेंगे कि क्या मेरी जिन्दगी बुरे विचार से ही भरी हुई है? उस स्थिति में सुधार लाने के लिए मुझे निश्चय ही उन महापुरुषों का सानिध्य प्राप्त करना होगा। जिनका जीवन भीतर और बाहर से स्फटिक की भांति निर्मल एवं पारदर्शी बन चुका हो। ऐसी पावन आत्मा में झांककर देखने पर निश्चय ही मेरा प्रतिबिम्ब सामने आ जायेगा। उस (उभरते हुए) प्रतिबिम्ब को वीतराग भाव की दृष्टि से अवलोकित कर विभाव की सारी कालिमा दूर करने का सत्पुरुषार्थ भी मुझे ही करना होगा।

संसारी प्राणियों की आत्मा, आज, कल, परसों या वर्षों से ही नहीं, अनन्त-अनन्त जन्मों से, कर्मों से जकड़ी होने के कारण से स्वयं का परिपूर्ण जागृत रूप निहार नहीं पा रही है। ऐसी स्थिति में उसके अनुमान से परे की बात होती जा रही है कि उसका निज स्वरूप कैसा है? एक बार जंगल में, पानी का एक सरोवर पूर्ण रूप से शैवालाच्छादित था। अर्थात् पानी के ऊपर काई की गहरी पर्त आई हुई थी। जिसके कारण बाहर से देखने वाले को भी पानी दिखलाई ही नहीं देता था। इधर सरोवर में रहने वाले चलचरों को बाह्य दृश्य दिखलाई नहीं देते थे। इस सरोवर में एक लघुकाय कछुआ जिसने जन्म के बाद अब तक बस इस सरोवर को ही देखा था। वो तो क्या उस सरोवर में रहने वाले किसी भी जलचर ने कभी बाहरी दृश्य नहीं देखे थे। इसीलिए सब के सब यह मान बैठे थे कि दुनियां केवल इतनी ही है। इससे अतिरिक्त अलौकिक दुनियां की कल्पना, कल्पना ही है। (जो जिसका सत्य से कोई वास्ता नहीं) ऐसी उन सबकी धारणा थी। तदनुसार उस बाल कछुए की भी धारणा थी। पर सरोवर के तट पर ही एक आम का

वृक्ष था । जिस वृक्ष से एक पका हुआ आम, डाली से टूट कर उस सरोवर में आ गिरा, छपाक की आवाज हुई । और जब वह शैवाल को चीरता हुआ भीतर में समाता चला गया । ठीक उसी समय वह कछुआ सरोवर में उसी स्थान के आस-पास घुस रहा था । उसने शैवाल में वह छेद देखा तो झट से उसने अपनी गर्दन उसमें से बाहर निकाली । उस समय बाहर का हृदय उसने जो देखा सो देखता ही रह गया । यह क्या अनन्त आकाश कैसा है । चन्द्रमा एवं अगणित तारे जगमगा रहे हैं । जिनका झिल-मिल प्रकाश एवं चन्द्रमा से छिटकती चांदनी अनुपम शीतलता का संचार कर रही है । वाह !!! क्या दुनिया का ऐसा अलौकिक रूप भी है ? (क्योंकि उस दिन पूर्णिमा थी ) मैं क्या मेरा सारा परिवार तो केवल सरोवर के भीतरी क्षेत्र को ही सारा संसार मान बैठा है । लेकिन ऐसा अद्भुत रूप तो मुझे आज ही देखने को मिला है । यह सोचकर कछुआ बहुत समय तक टकटकी लगाए उस शीतल सुधा का पान करता रहा । फिर सोचा क्या ही अच्छा हो कि ऐसा अनुपम रूप मैं अपने परिवार वालों को भी बताऊं, जिस सुख को मैं पा रहा हूं, उस सुख में उन्हें भी सहभागी बनाऊं । यह सोचकर वह कछुआ अपनी गर्दन नीचे लेता है । और परिवार वालों को बुलाने चल पड़ता है । तब तक शैवाल यथावत् हो जाती है वह छिद्र पूर्व की तरह पूर्ण रूप से शैवालाच्छादित हो गया इधर वह अपने परिवार वालों के पास पहुंचा और उनके सामने बड़े उत्साह के साथ जो आलौकिक दृश्य देखा था उसका वर्णन करने लगा । साथ ही यह आग्रह भी किया कि आप चले मैं अभी आप सबको वह दृश्य दिखाता हूं । प्रथम तो उन सबको इस बात पर विश्वास ही नहीं हुआ । पर वे प्रत्यक्ष दर्शन की बात को सुनकर चल पड़े उस दृश्य को देखने के लिए अब वह कछुआ अपने सारे परिवार को लेकर उस सरोवर में इधर से उधर चक्कर लगाने लगा । पर उसे अब वह छिद्र ही दिखाई नहीं दिया । जिस छिद्र से उसने बाहरी दुनिया को देखा था । पारिवारिक अन्य सदस्य उसे पूछ-पूछ कर परेशान हो उठे कि कहां है वह दृश्य जिसकी बड़े जोरों से चर्चा कर रहा था ? हम तो पहले से ही जानते थे कि तू गप्प हांक रहा है और हकीकत में तू कर भी वैसा ही रहा है । अब क्या जवाब दे, बिचारा वह निरीह कछुआ, क्योंकि उस छिद्र के ऊपर तो मोटी शैवाल आ चुकी थी । वह अनुभूति को अभिव्यक्ति का रूप नहीं दे पा रहा था । जिस प्रकार उन कछुओं को उस अलौकिक आकाश के स्वरूप को समझाना दुःशक्य है । क्योंकि उन्होंने अपनी पूरी जिन्दगी में कभी ऐसा दृश्य नहीं देखा था । ठीक यही स्थिति आज के युग में भी घटित हो रही है ।

संसारी व प्रत्येक आत्मा कर्मों के पतल से आच्छादित है । संसार की लगभग सभी आत्माएं सात-आठ कर्मों का बन्धन प्रति समय कर रही है । सात-आठ कहने का तात्पर्य यह है कि आयुष्य कर्म का बन्धन होता है उस समय आठ कर्मों का बन्धन जानना और जिस समय आयु कर्म का बन्धन नहीं, उस समय सात कर्मों का बन्धन होता है । यह आत्मा, अनादि अनन्त से उन कर्मों से जकड़ी चली आई है । इसी का कारण है कि वह आत्मा के अन्तर में रहे हुए परमात्मा के विशाल रूप को नहीं देख पा रही है । यदि किसी के द्वारा उसे उस के विषय में बतलाया भी जाता है तो वह उसे समझने या मानने को तैयार नहीं है । क्योंकि अन्तरंग का कुछ रूप ही ऐसा है, जो अभिव्यक्ति से नहीं, अनुभूति से ही समझ में आता है ।

अतः शास्त्रीय अभिव्यक्ति के माध्यम से भव्यात्माओं को अपनी अनुभूति को जगाने का यह सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया है । भगवान सुपाशर्वनाथ की प्रार्थना में सुख-सम्पत्ति के पाने में हेतु के रूप में बुद्धि को बतलाया है । उसे बुद्धि के सही तरीके से जागृत होने पर किये गये सत्पुरुषार्थ के बल पर कर्मों का भेदन किया जा सकता है । तभी हमें परमात्मा का असली रूप निहारने एवं लोकोत्तर सुख की आंशिक अनुभूति हो सकती है, और जब पूर्ण रूप से कर्मों का अन्त हो जाता है तब जो परमात्मा का रूप आत्मा में निखरने लगता है उसका तो कहना ही क्या । वह परम स्वरूप ही आत्मा को परमात्मा के नाम से अभिव्यंजित कर देता है । प्रज्ञापुरुष भगवान महावीर ने अपनी समता साधना के बल पर ही तो लगभग 12.5 वर्ष की सुदीर्घ साधना के पश्चात् केवलज्ञान-केवलदर्शन का अलौकिक दीप प्रज्वलित किया था । उसी अलोक में आज आप और हम अपने आपको देखने एवं जानने का प्रयास कर रहे हैं । यह प्रयास हमारा(किरकिर) स्वोत्प्रेक्षी हो । तभी वह उस आत्म रूप को प्रकाशित करने वाला बन सकेगा । यदि हमने अपने प्रयास को इधर-उधर के (पराफमुखी ) बाह्य प्रयासों में लगाया तो हम कभी भी आत्मसिद्धि के सोपानों पर चढ़ने की स्थिति नहीं पा सकेंगे ।

वर्तमान के युग में पुरुषार्थ बहुत किया जा रहा है । इस विषयक चर्चा भी जोरों पर है चाहे वे पुस्तकों में हो, पत्र-पत्रिकाओं में हो या फिर सोसायटी स्थलों पर हो । (सभी स्थलों पर बातचीत निरन्तर जारी है ।) पर यह विचार चर्चा स्वयं के लिए नहीं, परावलम्बित ही अधिक नजर आती है । अपने घर की जिन्दगी की ओर ध्यान आज के अधिकांश लोगों को नहीं है । वे सब दूसरों के घरों की गंदगी की ही प्रतिक्रिया कर रहे हैं । ऐसी प्रतिक्रिया करते-करते ही तो अनेकों जिन्दगियां बीत गईं पर हम जो चाहते थे, वह आज भी प्राप्त नहीं हुआ । और यही गति रही तो परम स्वरूप प्राप्त होने की सम्भावना भी नहीं की जा सकती । जिस प्रकार पूर्व की ओर जाने वाला इन्सान पश्चिम की ओर दौड़ता रहे तो वह चाहे कितनी भी दौड़ क्यों न लगाए उस दौड़ से वह पूर्व की ओर गति नहीं कर सकता ।

उधर जाने के लिए तो उसे अपने आप में मोड़ लाना ही होगा, वैसे ही हम क्रोध, अभिमान, छल, छद्म, विषय-कषायों की बातें करने चले जायें। दूसरों के ये दुर्गुणा देखते चले जाय पर अपनी ओर झाँकने का प्रयास न करे तो हमारी यह यात्रा भी पूर्व की ओर जाने वाले इन्सान की पश्चिम में दौड़ लगाने जैसी होगी। जरा इसे मोड़ कर अपनी ओर करना होगा।

कहते हैं कि एक गुरु शिष्य थे। गुरु के पास में एक ऐसा जादुई डण्डा था ! वह अगर किसी के मस्तिष्क पर घुमाया जाय तो उस व्यक्ति के सारे अवगुणों की लिस्ट डण्डे पर अंकित हो जाती थी। शिष्य को यह डण्डा बड़ा अच्छा लगा, और गुरु को अपनी भक्ति से खुश कर डण्डा उनसे ले लिया। गुरु ने देते वक्त एक बात कही थी कि इसका उपयोग मत करना। पर वह चंचल शिष्य कहां मानने वाला था। वह हर आगन्तुक व्यक्ति पर घुमाने लगता, और उनके दोषों को देखकर उन्हें डांटता-दुत्कारता था। एक दिन उसके मन में उत्सुकता जगी कि क्यों न गुरु पर भी डंडा घुमाया जाय और मौका देख कर उसने गुरुजी पर भी डंडा घुमा ही दिया। गुरुजी भी कोई सर्वज्ञ थे नहीं, उनके दोष भी डंडे पर अंकित हो गये। जिसे देखकर शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने देखा यह कैसा परोपदेश पांडित्य? इनमें तो खुद में दोष है। पर गुरुजी से यह बात छिपी नहीं रही। उन्होंने शिष्य से कहा। सुनो ! जरा तुम यह डंडा अपने ऊपर भी घुमाकर तो देखो। शिष्य ने जब वह डंडा अपने ऊपर घुमाकर देखा तो अब तक जितने लोगों पर डंडे घुमाए, उनके सारे दोष और उसके अतिरिक्त दोषों का अखूत खजाना ही सामने चला आया। तब उसे बड़ी लज्जा आयी। तब गुरुजी ने समझाया जो दूसरों के दुर्गुणों को देखता है वह स्वयं भी दुर्गुणों से भर जाता है। अतः अपनी बुद्धि को आत्मस्वरूप जागृत करने के लिए सद्गुणग्राही बनाने तभी कल्याण हो सकेगा। इसी मंगल-कामना के साथ।

-गंगाशहर-भीनासर

## मन के साधे सब सधे

जीवन में जो कुछ चमक है, वह इस चेतना का परिणाम है। चेतना के लिए भी वर्तमान जीवन को देखना आवश्यक है। वर्तमान जीवन में- जीवन के सभी स्तरों पर विचार करेंगे तो चेतना के रहस्य तक पहुँचा जा सकेगा। चेतना और मन के बीच में अन्तर है। शरीर और मन का परस्पर सम्बन्ध है। शरीर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मन की सहायता के बिना नहीं कर सकता। शरीर पर जब कोई चोट लगती है तब मालूम होता है कि शरीर को कष्ट पहुँच रहा है। मन तेज गति से दौड़ रहा है। मन को नहीं समझने के कारण ही लोग कई समस्याओं से उलझते रहते हैं।

चेतना शरीर से बहुत ऊंची है। शरीर से महान है। ऐसी आनन्दमयी आत्माएं जिन शब्दों के सम्बोधन से पुकारी गई है उनको जिन भगवान कहते हैं। ऐसी ही आत्माएं जिन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं को जीतकर अरिहन्त पद पाया है। जब मन को सही दिशा में मोड़ने का यत्न किया जाता है तब मन वहाँ से दूसरी जगह भागता रहता है। मन पर काबू पाना भी बड़ा कठिन है। पद्म कमल के चिह्नवाला पुरुष चक्रवर्ती सम्राट हो सकता है।

जो मन के विभिन्न आवरणों को समझ जाता है। आप नाशवान सुख सम्पत्ति चाहते हैं-या-अविनाशी सुख-सम्पत्ति को। अविनाशी सुख-सम्पत्ति सदा आपके साथ रहेगी और नाशवान सुख सम्पत्ति समाप्त हो जायगी। इसीलिए कर्म बन्धनों को तोड़कर सच्चा सुख पाने की ओर ध्यान जाना चाहिए। जिसका विवेक जागृत है। वह श्रेष्ठ वस्तु ही ग्रहण करेगा।

हमारे चारों ओर विकारों की धूल भरी आँधियाँ चल रही है, सिनेमा घरों से वासना का अन्धड़ निकलता है। कामुक साहित्य के गन्दे नाले बहते हैं। इस विकार मुक्त वातावरण में कौन आत्मा कितनी उलझती है। यह विचारणीय है इसीलिए कहा गया है कि मन को साधे सब सधे।

श्री सुपाशर्व जिन वंदिए .....

प्रार्थना में ललना को सम्बोधित किया गया है । ललना का जो अर्थ प्रायः मानव के मस्तिष्क में हैं, वह स्त्री पर्याय से सम्बन्धित है । लेकिन यहां सम्बोधन समग्र आत्माओं को है, न कि सिर्फ स्त्री पर्यायवाली आत्माओं को ।

जितनी भी आत्माएं हैं, उन आत्माओं के भीतर में जो चेतना शक्ति है-वह शब्द स्त्रीलिंग का है, इसलिये ललना शब्द का प्रयोग किया गया है । उसी चेतना को जागृत करने के लिये प्रार्थना में कवि ने सम्बोधन दिया है । वह आत्मा और उसकी चेतना कहां है, किस स्थान पर है-वह इन चर्म चक्षुओं से दृष्टिगत नहीं होता है लेकिन उसकी प्रक्रिया सम्पूर्ण जीवन को आप्लावित कर रही है । इस जीवन में जो कुछ भी चमक है, जैसा भी व्यवहार दृष्टिगत हो रहा है, वह सब इसी चेतना का परिणाम है ।

### चेतना बदले हुए परिवेश में :

वह चेतना अपने स्वयं के रूप में नहीं रह पाई है । उसने अपना परिवेश बदल दिया है । वह दूसरे रूप में चल रही है । सदा से वह दूसरों के आवरण से घिरी हुई है । उनके पीछे ही वह अपना कार्य कर रही है । स्वयं की स्वयं को अनुभूति नहीं हो रही है इसलिये इस चेतना के लिये स्वयं को पाने की दृष्टि से वर्तमान जीवन को देखना आवश्यक है । वर्तमान जीवन के विभिन्न स्तरों को, विविध आवरणों तथा पटों को देखने की कोशिश करेंगे तो एक दिन उस चेतना तक भी पहुंच सकेंगे । इस चेतना को ही ललना के नाम से सम्बोधन किया है, इसी चेतना को जानने और समझने की आवश्यकता है ।

यह शरीर जो कि सबकी दृष्टि में आ रहा है, उसके और मन के बीच में कुछ अन्तर है । शरीर और मन में परस्पर सम्बन्ध हैं । एक दूसरे का सम्बन्ध माध्यम की अवस्था से जुड़ा है । यद्यपि शरीर और मन एक दृष्टि से एक दिखाई देते हैं, लेकिन प्रक्रिया की दृष्टि से जब उन दोनों को देखते हैं तो दोनों में भिन्नता मालूम होती है । शरीर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में मन की सहायता के बिना स्वयं सक्षम नहीं होता है । शरीर पर कोई आघात पहुंचाता है और मन उसके साथ लगता है, तभी यह ज्ञात होता है कि शरीर को दुःख या कष्ट हो रहा है । जब तक मन महसूस नहीं करता कि शरीर को कहीं आघात लगा है, तब तक अनुभव में कष्ट का प्रसंग नहीं रहता है ।

उदाहरण के तौर पर आप देख सकते हैं कि डॉक्टर जब शरीर के किसी अवयव को काटना चाहता है तो उस भाग में पहले वह अमुक तत्व का इन्जेक्शन लगा देता है जिससे मन और शरीर के बीच के सम्बन्ध को वह शून्य बना देता है । इससे शरीर की सूचना मन तक नहीं जाती और डॉक्टर अपनी इच्छानुसार बिना रोगी को कोई कष्ट महसूस कराये ऑपरेशन कर देता है । मन को नहीं जुड़ने देने पर शरीर के साथ कैसा भी व्यवहार किया जाता है यह महसूस नहीं होता है । अवयव को काट देने पर भी मन से कष्ट का सम्बन्ध नहीं जुड़ता है क्योंकि मन तक उसकी सूचना नहीं पहुंचती है । बीच के माध्यम की दृष्टि से तो आप स्वयं शरीर और मन की स्थिति को समझने का रूपक लें । इस दृष्टिकोण से यह मालूम होगा कि शरीर की अवस्था अलग आवरण के रूप में है और मन की स्थिति कुछ और है । चेतना अपना स्वरूप भूल कर मन और शरीर के चलाने से चल रही है तथा मन भी अपनी तीव्र गति से दौड़ रहा है और अपने साथ दूसरे तत्वों को दौड़ा रहा है ।

### मन और शरीर का सम्बन्ध:

जहां तक सिर्फ मन का विषय है, जब तक वह अपना सम्बन्ध शरीर से नहीं जोड़ता है, तब तक शरीर के कष्ट अथवा उसकी अन्य प्रकार की अवस्था का अनुभव नहीं हो सकेगा । आप चल रहे हैं अपनी धुन में और अचानक आपका एक धनिष्ठ मित्र बहुत दिनों बाद दृष्टि में आया । उसे देखते हो आपका मन प्रफुल्लित हो उठा और अनुभव हुआ कि बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ अनन्य स्वरूप मित्र मिल गया और सामने आ गया । आप हर्ष विभोर होकर आगे बढ़े । जैसे ही आपने दृष्टि फैलाई और समीप में गये तो आपको ज्ञात हुआ कि वह तो आपका मित्र नहीं है । भ्रम से गलत देख लिया-वह तो कोई दूसरा है । उस समय आपके मन में क्लान्ति आ गई-आप अपने मन में मुरझाने लगे । यह क्या हुआ ? यह मुरझाना और प्रफुल्ल होना क्या सीधे शरीर से बन पड़ा है ? नहीं, ऐसा नहीं हुआ । शरीर के पीछे यह मन का कार्य हुआ है । शरीर को कोई विशेष कष्ट का प्रसंग नहीं आया, लेकिन मन की गतिविधि का शरीर पर प्रभाव पड़ा ।

मन और शरीर के सम्बन्ध परस्पर में इतने प्रभावोत्पादक होते हैं कि इन सम्बन्धों का एक दूसरे को परिणाम भी भुगतना पड़ता है । शरीर को कोई कष्ट नहीं हुआ, लेकिन मित्र के मिलन-भाव से मन को जब प्रफुल्लता हुई तो शरीर में भी आल्हादकारी अनुभव पैदा हुआ और जब वह अपना मित्र नहीं निकला तथा मन मुरझा गया तो शरीर की आकृति भी निराश और फीकी दिखाई देने लगी ।

मन के माध्यम से उसके अनुभव की छाया शरीर पर पड़ जाती है। क्योंकि उस समय मन और शरीर अपने माध्यम से जुड़े हुए होते हैं-एक साथ रहते हैं। इसलिये मन का असर स्वाभाविक रूप में शरीर पर पड़ता है। मन के साथ शरीर भी प्रफुल्ल होता या मुरझाता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन यह इस प्रकार का जो मन होता है, उसको शास्त्रीय पद्धति से द्रव्य मन कहा जाता है। इस मन के पटल में अनेक तरह के संस्कार और अनुभव होते हैं- विविध प्रकार की वृत्तियां समाई हुई रहती है। मन की स्थिति जितने तौर पर समझी जा रही है, उतनी ही नहीं है। मन की स्थिति बहुत विशाल है, उसका अनुभव लेने का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है तथा यदि मन को विधिपूर्वक साधा जाय तो इसके स्वरूप को विराट् भी बना सकते हैं। लेकिन इस प्रकार के इस मन की स्थिति को समझने के लिये बहुत बड़े अभ्यास की जरूरत होती है और ऐसा अभ्यास वर्तमान युग के मानव के पास में बहुत कम रह गया है। मन और शरीर के सम्बन्धों तथा अनुभव लेने के दृष्टिकोणों को बारीकी से समझे बिना मन के गूढ़ रहस्यों तक नहीं पहुंचा जा सकता है।

### मन को साधने के प्रयोग :

मन की गतिविधियों की नहीं समझ पाते हैं, इसी कारण मन के विषय को लेकर अलग-अलग लोग अलग-अलग प्रकार से उलझते रहते हैं। कोई व्यक्ति मन की बात लेकर कभी खिन्न हो जाता है कि मैं धर्मध्यान करने बैठा हूं, सामायिक पौषध कर रहा हूं और प्रभु का ध्यान लगाने की चेष्टा करता हूं, लेकिन यह मन एक जगह नहीं ठहरता है-पल में कहीं का कहीं चला जाता है। यह मन कहां जाता है, कहां से कहां तक दौड़ लगता है और क्यों इतना चंचल बना रहता है-इस तथ्य की खोज मनोवैज्ञानिकों, दार्शनिकों तथा आध्यात्मिक विज्ञान वेत्ताओं ने की है।

मनोवैज्ञानिक इस मन की खोज करने के लिये निकले तथा वैज्ञानिक तरीकों से मन को साधने के प्रयोग भी उन्होंने किये। मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड का बड़ा नाम है, उन्होंने बहुत कुछ रूप में मन की गहराई में उतर कर मन के स्वर्गों को गूंथा लेकिन उनकी वह खोज शुद्ध भौतिक दृष्टि से हुई। उन्होंने मन की गति का मूल मनुष्य की वासना को माना। फिर उससे आगे का प्रयोग हुआ और पता लगाया गया कि मन दो प्रकार का है- जागृत मन और अजागृत मन। उसमें सामूहिक चेतना को भी स्थान दिया गया। मनोविज्ञान की खोज में-मन के गूढ़ स्वरूप की तह में इससे अधिक गहरा प्रवेश नहीं किया जा सका है।

लेकिन वीतराग देवों ने अपने जीवन की सर्वोच्च स्तर तक ऊपर उठाया तथा मन की गहरी से गहरी थाह ली मन की शक्ति का उन्होंने मूल तक पहिचानी। मन की विभिन्न परतों को उन्होंने उद्घाटित की तथा मन के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान किया। गहराई तक मन का पता लगा कर उन्होंने निर्णय दिया कि यह चेतना जिसको दुनिया देखना चाहती है, शरीर तक ही सीमित नहीं है। यह चेतना शरीर से बहुत ऊंची है और शरीर से बहुत महान् है। द्रव्य मन साधन है, कठपुतली के समान है। वे इस द्रव्य मन से भी बहुत ऊपर उठे। उन्होंने भाव मन का अनुभव लिया और अपनी अन्तर्चेतना के दर्शन किये। मन के समस्त विकारों को उन्होंने परास्त कर दिये और वे विशुद्ध चिन्तन में निज स्वरूप को प्राप्त करके सदा-सदा के लिये परम आनन्दमय बन गये। ऐसी आनन्दमयी आत्माएं जिन शब्द के सम्बोधन से पुकारी गईं। जिनको जिन भगवान् कहते हैं, वे ऐसी ही आत्माएं हैं जिन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं को जीत कर अरिहंत पद प्राप्त कर लिया। इन्हीं अरिहन्तों ने साधना वस्तु में मन की सम्पूर्ण खोज की, मन को साधने के लिये अनेक उपाय प्रयोग में लिये तथा श्रेष्ठ और सफल उपायों का उन्होंने अपनी वाणी से संसार को निर्देश दिया। वही वाणी आज हमारे ज्ञान और कर्म का प्रधान सम्बल है।

### मन के विभिन्न आवरण

#### आवरणों का उद्घाटन:

प्रार्थना में केवल श्री सुपाशर्वनाथ भगवान को सम्बोधित किया गया है, वह तो प्रतीक स्वरूप है। जितने जिन भगवान हुए हैं तथा हैं, उन सबको वन्दन किया गया है तथा उन सबको सुख तथा सम्पत्ति के हेतु बतलाया गया है। यह सुख और सम्पत्ति का जो उल्लेख किया गया है; मैं समझता हूं कि इसके द्वारा अपने मन के विभिन्न आवरणों को ही देखने, उन आवरणों का उद्घाटन करने तथा मन को उन आवरणों को समाप्त करने की दृष्टि से जगाने की कोशिश की गई है।

यह मन का विषय ऐसा है कि उसको समझकर जब मन को सही यही लक्ष्य की तरफ मोड़ने की कोशिश की जाती है तब मन वहां से दूर-दूर भागने की चेष्टा करता है। याद रखिये कि जब तक मन के विषय को गहराई से नहीं समझेंगे तब तक मन पर

काबू भी नहीं पा सकेंगे । मन काबू में नहीं आयेगा तो परमात्मा को विधिपूर्वक वन्दन भी नहीं कर पायेंगे, जिस वन्दन को कवि ने सुख और सम्पत्ति का हेतु बताया है । इस दृष्टिकोण से हो मैं आपको आपके वर्तमान मन को वृत्तियों से ऊपर उठने का संकेत दे रहा हूँ । इस मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दृष्टि को आप ध्यानपूर्वक सुनें तथा उस पर चिन्तन मनन करें ।

अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तथा सांसारिक विषयों में आसक्ति रखते हुए इस आत्मा में निज स्वरूप की प्रतीति के प्रति संज्ञाहीनता सी आ गई है और उसके कारण इस मन पर भी कई पर्तें चढ़ गयी हैं -कई आवरण आ गये हैं । मन उन आवरणों में ही अपनी स्वरूप संज्ञा लेने लगा है । द्रव्य मन-यह एक तरह का द्रव्य होता है लेकिन इस द्रव्य मन की गति भी भाव मन के निर्देशन के वगैर नहीं होती है । मनुष्य उच्चारण करता है कि मैं परमात्मा के तुल्य हूँ लेकिन उसका वर्णन द्रव्य मन के आधार पर होता है । सही स्वरूप दर्शन तो आन्तरिक अनुभव के साथ जब भीतर को गहराई में पहुंचते हैं तभी होता है और सही वस्तुस्थिति सामने आनी है । इतनी आन्तरिकता में उतरते हैं कि जहां पहुंच कर जिन के स्वरूप को उपलब्ध करते हैं और इसी बिन्दु तक पहुंचने पर जिन भगवान को वास्तविक वन्दन कर सकते हैं ।

बात बहुत गहन है, अपने आपको आप इस गहनता की स्थिति में कैसे ले जायेंगे ? एक छोटा-सा रूपक ले लीजिये । यह रूपक लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का है । एक वृक्ष के नीचे एक पुरुष बैठा हुआ था । एक सामुद्रिक विज्ञान का ज्ञाता उधर से निकल रहा था । सामुद्रिक विज्ञान में इस बात का वर्णन होता है कि शरीर के कौन-कौन से चिह्न किस-किस बात की सूचना देते हैं ? उस सामुद्रिक की दृष्टि जमीन की तरफ थी । जमीन पर उसको कुछ पैरों के चिह्न दिखाई पड़े । वह हर्षित हो उठा । वे चिह्न किसी विशिष्ट पुरुष के पैरों के थे । वह चक्रवर्ती सम्राट भी हो सकता है-उसने सोचा । वह प्रसन्न हुआ कि यदि उसकी विद्या सही है तो आज मार्ग में चक्रवर्ती सम्राट से उसकी भेंट अवश्य होगी । उनके शरीर चिह्नों से और कुछ वह उनको बता देगा तो उसका भाग्य खुल जायेगा ।

वह सामुद्रिक प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़ने लगा । यकायक उसे विचार आया कि क्या चक्रवर्ती सम्राट पैदल जायेंगे ? वे बिना वाहन के कैसे जा सकते हैं ? अब उसके मन में संशय पैदा हुआ । खुले पैरों के चिह्न चक्रवर्ती के कैसे हो सकते हैं ? अब उसका मन डगमगाया और शंका करने लगा कि क्या उसकी विद्या सही नहीं है ? यहां तक कि उसे वे पैरों के निशान किसी मामूली मजदूर के मालूम पड़ने लगे और उसकी इच्छा हुई कि वह अपने पोथी पत्रों को कुए में फेंक दे । वह दुविधा में फंस गया ।

उस वृक्ष के समीप वह पहुंचा तो उसे वह पुरुष दिखाई दिया जो सादे वेश में फक्कड़ तबियत का लग रहा था । शरीर की आकृति आकर्षक, किन्तु गरीब घराने का मालूम पड़ता था । पास में एक भिक्षा पात्र पड़ा था । उसने मन ही मन पहले देखे पैरों के चिह्नों से उसके पास जमे पैरों के चिह्नों का मिलान किया तो उसको ऐसा लगने लगा कि दोनों चिह्न एक जैसे हैं । उसे बड़ा पश्चात्ताप होने लगा कि उसने कैसे सामुद्रिक विज्ञान का अध्ययन किया है ? वह चिन्ताग्रस्त बन गया । उसकी चिन्तित मुद्रा को देखकर उस फक्कड़ ने आवाज दो-अरे तू चिन्तित क्यों है ? मेरे पास आ । उसने उत्तर दिया-तुम मेरी समस्या को क्या समझोगे ? तुम तो साधारण से भिखारी मालूम पड़ते हो । फक्कड़ ने गम्भीरता से कहा-क्या पता, समस्या का हल ही निकल जाय । आओ तो सही ।

सामुद्रिक ने सारी बात पूरी तरह से समझा कर उस फक्कड़ को कही । फक्कड़ ने कहा-तुम्हारा चिन्तन सही दिशा में है । तुम्हारा यह अनुमान सही है कि ऐसे पदचिह्न वाला पुरुष चक्रवर्ती ही हो सकता है । तुम्हारा सामुद्रिक ज्ञान इस अर्थ में गलत नहीं है । लेकिन वर्तमान की स्थिति को समझने में ही तुम भूल कर रहे हो । अपनी ओर संकेत करते हुए उस फक्कड़ ने आगे कहा-यह शरीर उसी क्षेत्र में जन्मा था जहां चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का अवसर था । लेकिन इस जीवन में कुछ बोध हुआ, शरीर की बाहरी प्रकृति का ज्ञान लिया तथा भीतरी मन के विभिन्न आवरणों को समझने का प्रयास किया तो मुझे वह चक्रवर्ती सम्राट का पद एकदम फीका लगने लगा । मैंने उसे पाने का उपक्रम छोड़ दिया और इस आध्यात्मिक जीवन की तरफ मुड़ गया । उस चक्रवर्ती पद को पाना मैंने अभीष्ट नहीं समझा मैंने सोचा कि इस आत्मा और मन पर पहले से ही कई पर्तें पड़े हुए हैं-फिर एक नया पर्दा और क्यों चढ़ाऊं ? इससे तो अच्छा यही है कि जो पड़े हुए हैं उन्हीं पर्तों और आवरणों को उद्घाटित करूं । वह समुद्र शास्त्र का विद्वान् उस फक्कड़ को आंखें फाड़-फाड़ कर देखने लगा । विद्वान् ने पूछा-तुम कौन हो ? फक्कड़ ने कहा-इस शरीर के जन्म की दृष्टि से मैं शुद्धोदन का पुत्र हूँ-लोग मुझे बुद्ध कहते हैं । दोनों के बीच में तब काफी चर्चा हुई और चैतन्य स्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में चिन्तन चला ।



कहने का अभिप्राय यह है कि जो मन के विभिन्न आवरणों को समझ जाता है, वह संसार के बड़े से बड़े वैभव का भी सहज भाव से परित्याग कर देता है, क्योंकि वह तो अविनाशी सुख-सम्पत्ति को पाना चाहता है। इसलिये वह मन के इन आवरणों का उद्घाटन करता है तथा शुद्ध चेतना का उसके परम शुद्ध स्वरूप में दर्शन करता है।

## आपको भी सुख-सम्पत्ति चाहिये ? कैसी-नाशवान या अविनाशी ?

प्रार्थना में यह कहा गया है कि भगवान् सुपाश्वर्यनाथ को वन्दन करने से सुख-सम्पत्ति मिले। मेरे सामने चाहे यह व्यक्त हो अथवा न हो, लेकिन अधिकांश लोगों के मन के अन्दर यही भावना चलती होगी। क्या इस सुख-सम्पत्ति को आप इस बाहर दिखाई देने वाली सुख-सम्पत्ति के रूप में देखना चाहते हैं ? तो समझिये कि यह एक गलत चाह होगी। इस सुख-सम्पत्ति को आज की भौतिक सुख-सम्पत्ति के रूप में न देखे। अपने मन में पहले यह निश्चय करें कि आप नाशवान सुख-सम्पत्ति को चाहते हैं या अविनाशी सुख-सम्पत्ति को ? यदि अविनाशी सुख-सम्पत्ति को चाहते हैं तो वह एक बार आपको मिल जाने के बाद सदा-सदा के लिये आपके हाथ में ही रहेगी। ऐसी अवस्था में न चाहने पर भी नाशवान सम्पत्ति भी अविनाशी के पीछे पीछे छाया की तरह चलेगी। आपको ऐसे सुख-सम्पत्तिवान् विशिष्ट पुरुषों के चरित्र सुनने को मिले होंगे और उनसे आपको प्रेरणा मिलेगी कि वास्तविक सुख-सम्पत्ति की ही प्राप्ति की जानी चाहिये।

आन्तरिक चेतना जब सजग बन जाती है तो फिर यह बाहर की नाशवान सम्पत्ति मूल्यहीन दिखाई देती है। त्रिखंडाधिपति श्री कृष्ण के भाई गजसुकमाल ने जागृत बन कर जब दीक्षित बनने का निश्चय किया तो किसी के भी कहने से वे रुके नहीं। उनमें उमंग समा गई कि इस नाशवान सम्पत्ति का घातक मोह छोड़ कर अविनाशी सुख-सम्पत्ति प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ना चाहिये ताकि वह सम्पत्ति कभी नष्ट नहीं हो और सदा काल के लिये आत्मा को आनन्दमय बनाये रखे। इस प्रसंग को जीवन्त बनाने वाली आत्माएं महान् और विशिष्ट स्थान को प्राप्त करती हैं।

आपको भी सुख-सम्पत्ति चाहिये और यह विश्लेषण करने के बाद तो आप भी यही कहेंगे कि हमको भी अविनाशी सुख-सम्पत्ति चाहिये। जिसका विवेक जग जाता है वह श्रेष्ठ वस्तु ही ग्रहण करना चाहेगा। आम को छोड़ कर जो निबोली के पीछे भागता है, उसको दुनिया अक्लमंद नहीं कहती है। जिन आत्माओं ने अविनाशी सम्पत्ति को प्राप्त करने का संकल्प लिया है, वे एक के बाद एक आपके समक्ष उपस्थित हो रही हैं। अभी आप कुछ सुन गये-कुछ देख गये। क्या देखा ? दुर्ग के अगुआ महानुभाव इस पवित्र कार्य की दलाली में लगे हुए हैं। दो वैरागिन बहिर्ने संसार के सारे लुभावने वायु-मंडल से ऊपर उठकर महावीर प्रभु के आध्यात्मिक अनुशासन में समर्पित होने को उत्सुक हैं ताकि वे अपनी आत्मिक साधना में तत्पर बन सकें। उनका आज्ञापत्र भी पढ़कर सुनाया गया है। सबके बीच में बोलने का इन बहिर्नों का शायद पहला ही अवसर होगा लेकिन उनके बोलने में कितनी संजीदगी थी ? उनके भावों में कितना उत्साह था ? समझिये कि वे अपने अभ्यास के साथ स्वस्थ जीवन निर्माण की इच्छुक हैं। नाशवान सम्पत्ति को वे छोड़ रही हैं और अविनाशी सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करने की अभिलाषा से वे दीक्षित बन रही हैं। लेकिन आपको भी तो सुख-सम्पत्ति चाहिये न ? आप भी इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये कुछ न कुछ तो ठोस कार्य अवश्य कीजिये।

## विकारपूर्ण वातावरण से

### मन को अप्रभावित बनाने :

अधिकांश मानव आज की भौतिक जीवन की दूषित प्रणाली में बह रहे हैं। मैं समझता हूँ कि थली प्रदेश में तेज हवाएं चलने के कारण रेती के कण काफी उड़ते हैं और धूलभरी आंधियां उठती हैं। रेत के टीबे के टीबे इधर से उधर उड़ जाते हैं। जैसी ये रेत की आंधियां चलती हैं, वैसा ही इस सांसारिक जीवन का प्रसंग है। चारों ओर तरह-तरह के विकारों की धूलभरी आंधियां चलती हैं। सिनेमाधरों से वासना का अन्धड़ निकलता है। कामुक साहित्य और जासूसी उपन्यासों के गन्दे नालें बहते हैं। इस विकारपूर्ण वातावरण में कौन आत्मा कितनी उलझती है-कितनी रचती-पचती है, उसी आधार पर मन की थाह ली जा सकती है कि वह कितना उद्धंड है या कि कितना सधा हुआ ? देखते हैं तो ज्ञात होता है कि अधिकांश तरुण-तरुणियां इस विकारपूर्ण वातावरण में उलझी हुई हैं। कई-कई आत्माएं तो इस विकार के दलदल में इतनी गहरी धंस जाती हैं कि उनका उससे बाहर निकल आना भी एक दुष्कर कार्य हो जाता है।

रेगिस्तान में जो वृक्ष होता है, वे इन धूलभरी आंधियों को भी सहन करते हैं, किन्तु अपने स्थान से डिगते नहीं हैं। वैसे ही जो आत्माएं अपने चैतन्य स्वरूप को देखने और चमकाने के लिये सुदृढ़-संकल्पी बन जाती हैं, वे इन वृक्षों के समान अपने मन को सारे विकारपूर्ण वातावरण से अप्रभावित बना लेती हैं। यह जो कार्य है, वही मन को साधना है-मन को वश में करना है तथा मन को आत्मा के अधीन बनाकर आत्म-विकास के पथ पर चलाना है। समझिये कि एक अकेला मन सध जाता है तो सब कुछ सध जाता है-सारा जीवन सध जाता है और जब यह जीवन सध जाता है तो इहलोक के साथ परलोक भी सध जाता है।

आप इन बहिर्गो को देख रहे हैं-संत-सती वर्ग के दर्शन कर रहे हैं, जो साधनामय जीवन को लेकर चल रहे हैं। इनके जीवन उन वृक्षों के समान बन रहे हैं जो विकारपूर्ण आंधियों के प्रभाव से अविचलित बने रहने का अभ्यास कर रहे हैं। यह अभ्यास मन को साध लेने की दिशा में चल रहा है।

मन को साधे, सब सधे,  
सब साधे, सब जाय

इस मानव जीवन में यदि एक अपने मन को स्वाधीन बना लेते हैं तो आशा की जा सकती है कि उस स्वाधीन मन के चरण पूर्णतः स्वाधीन आत्मा की मंजिल तक अवश्य पहुंचेंगे। एक लक्ष्य नहीं बनावे और चारों ओर की प्रवृत्तियों में लगे तो शायद है, यह उक्ति सच साबित हो जाय कि सब साधे, सब जाय। इसलिये आत्मिक साधना के माध्यम से जीवन की तह तक पहुंचने का प्रयास कीजिये।

यह साधुता का जो क्षेत्र है, वह एक तरह से जीवन की तह तक पहुंचने की पाठशाला है। इसमें कौन-कौन प्रवेश कर रहे हैं? ये सम्पतमुनि जी बैठे हुए हैं जो छत्तीसगढ़ क्षेत्र के मंत्री थे और जिन्होंने अपने सांसारिक जीवन में भी धर्म-जागृति के बहुत कार्य किये, परन्तु अन्दर की जागृति आई तो ये इस पाठशाला में आ गये। मन तत्पर होता है तभी ऐसा हो सकता है और मन की तत्परता से ही मन सधता है।

मन को साधने का आध्यात्मिक जीवन लोहे के चने चबाने के समान है, लेकिन इनको भी चबाने की साधना कर लेंगे तो ये लोहे के नहीं रहेंगे अमृत कण बन जायेंगे। मूल बात समझले कि मन को साधे सब सब सधे।

दिनांक 30-8-77

## वन्दन और आत्मशुद्धि का तारतम्य

*मनुष्य कई बार वन्दन करता है और कई जनों को करता है। लेकिन वन्दन करना ही सब कुछ नहीं है। वन्दन जब सही भावना से किया जाता है तो तब ऐसा ज्ञात होता है कि जीवन हलका होता जा रहा है। पवित्रता वन्दन की वास्तविकता को प्रकट करती है। मनुष्य अपनी तरुणाई के आते-आते अभिमान वृत्ति में इतना घुल मिल जाता है कि उसे अपने अभिमान का पता ही नहीं चलता है।*

*गुणों के विकास की बात ध्यान में नहीं आती, उसका ध्यान इन बातों पर जाता है कि लोगों में उसकी कीर्ति बढ़े, उसका नाम प्रसिद्ध हो, दुनिया उसको पहचाने और दुनिया में उसकी प्रतिष्ठा स्थापित हो जाय। अगर आत्म वृत्ति को निर्बल बनाना है तो अभिमान को त्यागना होगा। धन-वैभव शान-शौकत आत्मा को बहुत रमणीय लगती है। मगर आध्यात्मिक जीवन में इनका कोई महत्व नहीं है। राजा श्रेणिक की वन्दना से सभी प्रभावित हुए थे।*

आप-अपनी वन्दना करें, कोई देखे-या-न देखे। पवित्र दिल से की गई वन्दना ही जीवन को भारहीन बनाकर आदर्शवान बना देती है। वन्दना का फल कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसका परोक्ष रूप से अवश्य ही लाभ होगा। वन्दना से बड़ा से बड़ा सम्राट भी नम्र हो जाता है। उसका जीवन बदल जाता है। उसके शरीर का कायाकल्प हो जाता है।

झूठी प्रशंसा की कामना करने वाला, मान-सम्मान चाहने वाला-पापकर्म करने वाला होता है। उसकी वन्दना अभिमान से लिप्त होती है। यह वन्दना के साथ प्रशंसा चाहता है। वह शुद्ध मन से वन्दना नहीं करता, लालच से करता है। आज धनवान का मान-सम्मान अधिक होता है। यह सम्मान धन का होता है, व्यक्ति का नहीं। अगर यही धनवान व्यक्ति जब कंगाल हो जाता है तो फिर उसे कोई नहीं पूछता जैन दर्शन के अनुसार भक्त भी भगवान बन सकता है।

श्री सुपाशर्व जिन वंदिए.....

परमात्मा को वन्दन करने की दृष्टि से कवि ने इस प्रार्थना में वन्दन की बात कही है तथा साथ ही वन्दन की विधि में सावधान रहने की महत्वपूर्ण बात बतलाई है। मनुष्य वन्दन कई बार करता है तथा कई जनों को करता है, लेकिन वन्दन करना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। वन्दन करते हुए जिस आत्मिक पवित्र भावना तथा शारीरिक विनम्रता का विकास होना चाहिये, वह भावना और वृत्ति यदि परिलक्षित नहीं होती तो समझता चाहिये कि वैसा केवल बाहरी वन्दन जीवन के लिये लाभदायक नहीं बनता है।

इसी कारण वन्दन की बात जितनी महत्वपूर्ण है, उतनी ही महत्वपूर्ण विधि विधान की बात है। उसमें सावधान रहने की विशेष आवश्यकता मानी गई है। वन्दन जब सही भावना तथा सही वृत्ति के साथ किया जाता है तो वन्दन करते समय ऐसा अनुभव होता है जैसे जीवन में हल्कापन आता जा रहा हो। अन्तस्तल की पवित्रता ढकी हुई होती है और अशुद्धि का ढक्कन होता है। वन्दन इस ढक्कन को उठाता है तथा पवित्रता उभर कर बाहर आ जाती है। वह पवित्रता ही वन्दन की वास्तविकता को प्रकट करती है। आत्मशुद्धि का तारतम्य ही वन्दन की तदनुसार विशिष्टता को अभिव्यक्त करता है।

अभिमान की अशुद्धि हटती है  
वन्दन की विनम्रता से

अन्तस्तल की पवित्रता पर ढक्कन लगा रहता है मनुष्य के अहं तथा अभिमान का और यह अभिमान आत्मा की अशुद्धि का विशेष कारण होता है। मनुष्य अपने जीवन में ज्यों ही समझ पकड़ता है, अभिमान की मात्रा किसी न किसी निमित्त को लेकर अंकुरित हो जाती है और जैसे जैसे शरीर तथा समझ की अवस्था बढ़ती जाती है, वैसे ही इस अभिमान की तरुणाई भी मनुष्य के अन्दर अंगड़ाई लेने लगती है। यहां यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी तरुणाई आने तक तो अभिमान की वृत्ति में इतना अभ्यस्त हो जाता है कि क्षण-क्षण में वह अपने अभिमान की परिभाषा से ही जीवन को आंकना आरंभ कर देता है।

मनुष्य अपने आत्मिक गुणों का विकास करें तथा उस विकास के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा और कीर्ति की कल्पना करें तो वह दूसरी बात है, लेकिन देखा जाता है कि गुणों के विकास की बात तो ध्यान में ही नहीं आती है, उससे पहले ही ध्यान में यही आता है कि कैसे दुनिया मुझे पहिचाने, दुनिया में मेरी नामवरी हो और दुनिया में मेरी चतुराई की प्रतिष्ठा बन जाये। किसी भी स्थान पर मैं उपेक्षित नहीं किया जाऊं तथा सभी कार्यों में मेरा प्रभुत्व रहे। उस कल्पना के साथ वह आध्यात्मिक धरातल पर खड़ा होकर अपने जीवन का मूल्यांकन नहीं करता है। वह यह देखने की चेष्टा नहीं करता है कि उसका आत्म स्वरूप कितना और क्यों अशुद्ध है तथा उसकी शुद्धि के क्या उपाय किये जा सकते हैं। बल्कि प्रपंच की बातें सोचता है कि कुछ न कुछ करके किसी न किसी साधन से अपनी कीर्ति का वातावरण बनाया जाय। ऐसे विचार के कारण वह स्वयं ही अपने आपको विशिष्ट व्यक्ति मानने लगता है तथा उस विशिष्टता को प्रत्येक स्थान पर दिखलाने की चेष्टा करता है। इन्हीं चेष्टाओं में अभिमान का उग्र स्वरूप उभर कर बाहर आता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को जो उसके व्यवहार में आता है यह अहंकार वृत्ति से कितनी कितनी कल्पनाएं उठती हैं, इस का लेखा वह स्वयं ही कर सकता है।

ज्ञानी जन संकेत देते हैं कि यदि तू वस्तुतः अपने जीवन को पवित्र तथा अपने आत्म स्वरूप को निर्मल बनाना चाहता है तो सबसे पहले इस अहंकार वृत्ति को दूर कर । अहंकार वृत्ति के दूर हुए बिना सच्चा वन्दन नहीं हो सकेगा तथा सच्चे वन्दन के बिना विनम्रता का विकास संभव नहीं है ।

## वन्दन का महत्वपूर्ण फल है आत्मशुद्धि का विस्तार

परमात्मा को अथवा अन्यान्य गुरुजनों को जो भावपूर्ण वन्दन किया जाता है, उसका यही महत्वपूर्ण फल माना गया है कि उससे आत्मशुद्धि का विस्तार होता जाता है । आत्मशुद्धि तभी होती है, जब मनुष्य अपने आत्म स्वरूप पर धिरे हुए कर्मों के आवरणों को तोड़ता है और कर्मों के मैल को दूर हटाता है । वन्दन का इतना महात्म्य माना गया है कि क्रूर से क्रूर कर्म भी भावपूर्ण वन्दन के प्रभाव से दूर हट जाते हैं । यदि प्रति दिन परमात्मा को एवं अन्यान्य गुरुजनों को सच्चे भाव से वन्दन करने का अभ्यास किया जाय तो समझिये कि हजारों और लाखों बार वन्दन करने का प्रसंग बन जाता है । इतनी बार वन्दन करने पर भी यदि किसी की आत्मा शुद्ध स्वरूप ग्रहण नहीं कर सके तो वह चिन्ता की बात कही गई है तथा यहां पर गहराई से उस अशुद्धि का कारण खोजने की आवश्यकता हो जाती है ।

महावीर प्रभु ने अपनी समवशरण की देशनाओं में इस वन्दन का अमित महत्व प्रतिपादित किया है । एक बार की बात है कि भगवान् महावीर का समवशरण अनेक आदर्श त्यागी महात्माओं के भव्य संयोग से सुशोभित हो रहा था उस वक्त में मगध सम्राट् राजा श्रेणिक प्रभु का वन्दन करने के लिये पहुंचे ।

श्रेणिक एक ऐतिहासिक राजा है । जिनका इतिहास में भव्य तरीके से उल्लेख आता है । वे अपने राजकीय वैभव के साथ समवशरण स्थल के समीप में पहुंचे । सामान्यतः सम्राट् के मन में अपने राज्य का जो माननीय ध्यान था, वह था ही और इसीलिये वे पूरे लवाजमे के साथ आये थे, लेकिन समवशरण स्थल के समीप में आते ही श्रेणिक की आत्मा ने इस राजकीय वैभव के प्रति रहे हुए उस के अहंकार को दबाने की चेष्टा की । उस समय में श्रेणिक की आत्मा ऊपर उठ गई तथा अहंकार नीचे दब गया । इस स्थान से ही उन्होंने भगवान् को वन्दन करने की विधि साध ली । जितने भी अभिमान सूचक राजकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण चिन्तन श्रेणिक के साथ में थे, उन सभी चिन्तनों को उन्होंने उतार कर रख दिये यह समझ कर कि ये चिन्तन यहां धार्मिक क्षेत्र में बाधक रूप दिखाई देते हैं ।

शास्त्रकारों ने मुनि दर्शन करते समय पाँच प्रकार के अभिगम साधने का सन्देश दिया है । जब भी भगवान् के समवशरण में अथवा भगवान् के अनुयायी सन्त सतियों के समीप में पहुंचे तो उस समय अपने पास जितने भी अभिमान को दिखाने तथा बढ़ाने वाले साधन या अन्य प्रकार के उपकरण हों, उनको उतार कर अलग रख देना चाहिये । यदि अपने पास कोई भी सचित पदार्थ पूरी इलायची आदि हो फूलमाला हो या अन्य कोई जीव युक्त पदार्थ हो तो उसको समवशरण या धर्म स्थान के बाहर ही निकाल देना चाहिये, हाथ में हिंसक शस्त्र लेकर भी भीतर नहीं जाना चाहिए । भीतर जाने का ज्यों ही उपक्रम किया जाय, त्यों ही उत्तरासन का प्रयोग कर लेना चाहिये—मुंह पर कुछ न कुछ आवरण रखने का अवश्य ध्यान रखा जाय । श्रावक को वन्दन करते समय उत्तरासन—साफ कपड़ा मुंह पर लपेट लेना चाहिये और जहां से भी भगवान् के दर्शन हो जाय, वहीं से उसको नतमस्तक होकर भीतर प्रवेश करना चाहिये । वन्दन है वह विनम्रता की साधना है तथा इसी विनम्रता से, अभिमान के परित्याग से आत्म स्वरूप की भव्य शुद्धि होती है ।

## अपना सारा बड़प्पन वन्दनीय पुरुष के चरणों में रख दें

राजा श्रेणिक ने समवशरण में प्रवेश करते ही यह नहीं सोचा कि मैं इतना बड़ा सम्राट् हूं, भगवान् की विशिष्ट परिषद् में प्रवेश कर रहा हूं और इस तरह की सादगी की विधि अपनाऊंगा तो मेरी शान क्या रहेगी और लोग मुझको मेरे बड़प्पन की दृष्टि से क्या समझेंगे ? उन्होंने तो एक ही ध्यान रखा कि कम से कम इस स्थान पर तो मुझे अपने अहंकार के सारे विहन उतार फेंकने हैं तथा अन्तर्मुखी दृष्टि के साथ में आत्म शुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करना है । जहां पर आत्म शुद्धि की अभिलाषा होती है तथा धार्मिक पवित्रता का वातावरण होता है, वहां सारा बाहरी वैभव तथा उसका समस्त आडम्बर उसके पीछे तुच्छ दिखाई देने लगता है ।

बाहरी वैभव तथा बाहरी शान शौकत की वस्तुएं इस संसारी आत्मा को बहुत ही रमणीय तथा मनोहर दिखाई पड़ती हैं लेकिन ये सारी वस्तुएं आध्यात्मिक जीवन की तुलना में मूल्य हीन तथा सार हीन होती हैं । जो व्यक्ति किसी के बाहरी वैभव तथा आडम्बर को देखकर उसके प्रभाव को मानता है समझ लीजिए कि उस व्यक्ति ने अपने आन्तरिक जीवन का स्पर्श नहीं किया है तथा वह इस विकार पूर्ण सांसारिकता को ही महत्वपूर्ण मानकर चल रहा है। वह बहिरात्मा है, उसने अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं किया है । लेकिन जिसका ध्यान बाहरी वस्तुओं से हटकर अपने अन्तःकरण में प्रवेश करता है, वह दूरसों की भी अन्तःकरण की ही महिमा को सर्वोपरि मानता है । वह अपने आन्तरिक स्वरूप को विशुद्ध बनाने की युक्ति करता है तो दूरसों के भी आन्तरिक विकास में यथासाध्य योग देने में सदैव तत्पर बना रहता है ।

जैसे ही मगध सम्राट् श्रेणिक समवशरण में पहुंचे, वैसे ही वहां पर बैठे हुए श्रोतागणों के नेत्र श्रेणिक को देखने के लिये मुड़ गये । वे नेत्र इसलिये नहीं मुड़े कि श्रेणिक जैसे महान् सम्राट् का वैभव कैसा है, बल्कि इसलिये मुड़े कि इतने बड़े सम्राट् का हृदय विनम्र कितना है ? सब एक ही ध्यान लगाकर देखते रहे कि इतना बड़ा सम्राट् भगवान् के समवशरण में आया है तो यह किस प्रकार की विधि से भगवान् को वन्दन करता है ? वे समझते थे कि जब एक श्रद्धावान् भगवान् की सेवा में उपस्थित होता है तो वह अपना सारा बड़प्पन वंदनीय पुरुष के चरणों में रख देता है ।

सम्राट् ने समवशरण के भीतर पांव रखते ही वन्दन की विधि अपनाई तथा अपने विनम्र एवं मृदुल आत्मीय भावों के साथ भगवान् के सामने झुक गये । वे अपने सम्पूर्ण वैभव के ध्यान तक को भूल गये । उनकी आकृति पर यही अनुभाव व्यक्त हो रहा था कि उनकी अन्तर्चेतना प्रभु के दिव्य स्वरूप के समक्ष नतमस्तक हो गई है । वह लालायित दिखाई देती है कि प्रभु की परम पवित्रता उसकी आन्तरिकता में भी प्रवेश करे । उनका वन्दन इस रूप में परिलक्षित हुआ जैसे वे अपनी आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा की आत्मा के साथ जोड़ रहे थे । वह उनका भावपूर्ण वंदन था । उन्होंने सावधानी पूर्वक जिस पाठ से वन्दन करना चाहिये उस पाठ के साथ उठ बैठ कर भगवान् के आगे झुक कर वन्दन किया । उन्होंने अपने समूचे बड़प्पन को भगवान् के चरणों में उस समय समर्पित और विसर्जित कर दिया था ।

## वन्दन का कार्य दीखने में सरल किन्तु करने में अत्यन्त कठिन

सम्राट् अपने अन्तःकरण में जिस भावना को लेकर वन्दन कर रहे थे, उसका अति स्पष्ट स्वरूप तो प्रभु महावीर ही जान रहे थे, लेकिन सारे श्रोता उस वन्दन की विधि से तथा वन्दन के सुन्दर भावों से परिपूर्ण रूप में प्रभावित हो रहे थे । उनका वह वन्दन का स्वरूप सहज ही में फलित होने जैसा था । श्रेणिक की अन्तरात्मा में यह विचार श्रेणी चल रही थी कि जिस प्रकार महावीर प्रभु ने इस आत्मघाती अहंकार और उसके दुर्गुणों से भरे हुए परिवार को समूल नष्ट किया है, वे भी उसी रूप में अहंकार के घातक असर को समझें तथा उसको नष्ट करने की दिशा में आगे बढ़े । उन्होंने महसूस किया कि ये सन्त जन जो भगवान् के साथ विराजे हुए हैं, वे भी इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं । इनकी आन्तरिकता में भी साधना का वही सूत्र है । ये सन्त जन भी जिस साधनास्तर तक पहुंच गये हैं, उस स्तर से मैं बहुत-बहुत नीचे हूं । इन सन्त जनों ने भी अपने सारे वैभव और परिवार का परित्याग किया है और अपने नाक के श्लेषम के समान निर्ममत्व होकर छोड़ दिया है । ये अब अर्किचन बनकर अपने समग्र विकारों को नष्ट करने के उद्देश्य से प्रभु के चरणों में शिष्य भावना से समर्पित हो गये हैं । इनकी आत्माएँ भी महान् हैं, उन्होंने उन महान् आत्माओं के चरणों में भी विधिवत् वन्दन किया । इस प्रकार की आदर्श भावना को अपने अन्तःकरण में संजोकर श्रेणिक महाराज एक-एक सन्त और एक-एक सती को बिना थके बिना घबराये विधिपूर्वक वन्दन करते हुए चले गये ।

यह ध्यान में रखिये कि वन्दन का यह कार्य दीखने और कहने में जितना सरल है किन्तु करने में अत्यन्त कठिन होता है । इसमें सम्पूर्ण शरीर ही नहीं झुकता है बल्कि समग्र आत्मा झुक जाती है । इस में भी कहां महान् ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी सुकुमार शरीर वाला सम्राट् और कहां छोटे छोटे सन्त सतियां, लेकिन सम्राट् की विनम्रता में तनिक भी न्यूनता नहीं थी । इस विषय का अनुभव आप अपने जीवन में भी आप भी करिए । कभी धर्मस्थान में पहुंचते हैं और वन्दन भी करते हैं, लेकिन आप अपने वन्दन के भावों की-वन्दन की विधि की श्रेणिक के इस वन्दन के साथ तुलना करके तो देखिये । शायद मैं गलत नहीं कहता हूं कि आप वन्दन करने में भी मुंह देखकर तिलक निकालते होंगे । यह आपकी भाषा है मुंह देख कर तिलक निकालने की कहावत का अर्थ आप समझते होंगे । आप शायद अन्दर की भावना को कम देखते होंगे और मुंह को ज्यादा देखते होंगे । ये महाराज बड़े है तो

इनकी वन्दन ठीक तरह से करें और छोटे मुनियों के सामने से यों ही सिर हाथ हिलाते हुए निकल जाएं । जैसे भैरुंजी को धोक देते हैं, वैसे ही वन्दन कर देते हैं ।

शायद इस बात का ध्यान आपको कम है कि यह वन्दन किसलिये है ? क्या महाराज को खुश करने के लिये वन्दन करते हैं या वन्दन का अभिप्राय अपनी ही आत्मा शुद्धि से जोड़ते हैं ? इस कारण जब तक वन्दन के मूल महत्व को नहीं समझ लेंगे तब तक वन्दन क्रिया के सम्बन्ध में असावधानी को नहीं हटा पायेंगे। वन्दन करने के पहले आप इन्तजार करते हैं कि महाराज उधर मुंह फेरे और दया पालो कहें तब वन्दन करें । इस वृत्ति में ध्यान रखें कि आपका अहंकार बोलता है। मतलब यह है कि पहले महाराज दया पालो कहें याने कि वे आपको बतलावें तब आप उनको वन्दन करें । वन्दन से तो अपने को अपनी आत्मा शुद्ध करने की भावना रखनी चाहिये-चाहे महाराज देखें या नहीं देखे, बोल या नहीं बोलें। क्या जब आपको प्यास लगती है, तब कोई घरवाला आपको पानी पीने को कहे और पानी लावे, तभी पानी पीते हैं या बिना कहे ही पी लेते हैं ? पानी से प्यास बुझानी है वैसे ही वन्दन से आत्म शुद्धि करनी है-यह खयाल में रखें ।

## वन्दन का मूल प्राण, आत्मशुद्धि का लक्ष्य

यदि आत्म शुद्धि के आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति सच्चाई है तो त्यागी जन हमारी तरफ देखे या न देखे, दया पालो कहे या न कहें, हमें ये कुछ भी विचार नहीं करते। उत्कृष्ट श्रद्धा और भक्ति के साथ उन्हें वन्दन, नमस्कार करना चाहिये। आपकी की गयी वन्दना कभी भी खाली नहीं जाने वाली है। आपको अवश्य ही उसका लाभ प्राप्त होगा। कोई देख रहा हो, या न देख रहा हो। यदि आप मिठाई खा रहे हैं तो आपका मुंह अवश्य मीठा होगा (देखने या न देखने का उस पर कोई असर नहीं होने वाला है। मीठाई है तो वह मीठी ही लगेगी।) जैसे ही हमने श्रद्धायुक्त सम्यक् विधि के साथ गुणीजनों को वन्दन किया है तो वह हमें लाभदायक होगा ही। इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।

किसान भूमि में बीज बोता है, उसकी सिंचाई करता है, उसका संरक्षण करता है तो एक न एक दिन वह बीज अंकुरित होकर फलवान बन जाता है। यह विश्वास कृषक अपने दिल में लेकर चलता है! वैसे ही हमारी वन्दनादि की क्रिया हमें एक न एक दिन पूर्ण फल देने वाली होती है। यह विश्वास सदा के लिए भव्यात्माओं को लेकर चलना चाहिये। वर्तमान में वन्दना की विधि भी कुछ विचित्र प्रकार की सी होती चली जा रही है। कई व्यक्ति शिष्टाचार के नाते हाथ जोड़ लेते हैं, तो कई व्यक्ति उससे कुछ आगे बढ़कर महाराज के पैरों के हाथ लगा लेते हैं। अगर कोई वन्दना भी करेगा तो थोड़ा आगे से झुक जाता है, पीछे का भाग पूरा झुकेगा ही नहीं। यदि झुक गया तो घुटने टेककर शास्त्रीय विधि के अनुसार वन्दन करने वाले भाई तो विरले ही परिलक्षित होंगे। वन्दना का यह विकृत रूप आत्मशुद्धि व विनम्रता का परिचायक नहीं माना जा सकता। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है कि वन्दना करने वाला भाई वन्दना करके जैसे महाराज पर कोई बहुत बड़ा अहसान कर रहा हो।

विचार करिये-शास्त्रकारों ने संत-मुनिराजों के विषय में बतलाया है-

**पूयण्डा जसोकामी-माण सम्माण कामओ ।**

**बहुपसवई पावं-माया सल्लं च कुव्वई ॥**

यदि मान-सम्मान के लिए माया का सेवन करता है तो वह बहुत पापार्जन करता है।

पूजा, यश, मान, सम्मान की झूठी कामना करने वाला बहुत पापकर्मी को करने वाला होता है। इसलिए यह गाथा पूजार्थी (पूजा चाहने वाला) माया करता है उसके लिए है-वंदिओ न समुक्कसे सच्चाई साधक तो मान-सम्मान की कामना नहीं करता है, न ही वह आपके वन्दना की इच्छा ही करता है (कि आप उसे वन्दन करें)। वह तो इन सारी ही उपाधियों से ऊपर उठकर आत्मा में रमण करने वाला होता है। पर उनको निमित्त मानकर अपनी आत्मा का कल्याण करने वाले भावुक भक्तों को भक्ति एवं वन्दना के लिए सम्यक् विधि का ध्यान रखना आवश्यक है।

आग तो अपने ढंग से प्रज्वलित है, उस पर रोटी कैसे पकानी है, यह विज्ञान महिला को होना जरूरी है। उसके सही बोध से ही वह रोटी को सही तरीके से पका सकती है। वैसे ही वन्दना की विधि का ध्यान प्रत्येक भव्य आत्मा को होना आवश्यक है। विशुद्ध भावों एवं सम्यक् विधि से की गयी वन्दना श्रेणिक की तरह आज भी फलदायी बन सकती है।

अधिकांश जनसाधारण में किसी के गुणों का मापदंड धन ही अधिक देखा जाता है। जिसके पास धन अधिक हो, चाहे वह किसी भी प्रकार से अर्जित किया गया हो, उस व्यक्ति का मान-सम्मान अधिक किया जाता है। (गृहस्थ) इसी दृष्टि से कभी-कभी साधु-सन्तों को भी देख लेते हैं, और उनका मान-सम्मान भी वह उसी रूप से करते हैं। जो साधक धन की दृष्टि से किसी उच्च घराने से निकला हो तो उस धनलक्षी (गृहस्थ) की दृष्टि में उसका महात्म्य ज्यादा होता है और जो गरीब घराने से निकला हो, उसका महात्म्य वे लोग कम समझते हैं।

ऐसा ही कुछ वर्णन ऐतिहासिक पृष्ठों पर (अभय कुमार को लेकर) पढ़ने को मिलता है। बतलाया जाता है कि एक समय अभय कुमार जब हाथी पर बैठकर नगर प्रवेश कर रहे थे तो सामने एक नवदीक्षित अनगर आते हुए दिखलाई दिये। उन्हें देखकर उनकी भावना उमड़ी और (श्रद्धा-भक्ति के साथ) उन्हें वन्दना करने के लिए हाथी को रुकवाया नीचे उतर कर मुनिराज के सामने गये और बड़ी भक्ति के साथ उन्हें वन्दन-नमस्कार किया। फिर उनके आगे बढ़ जाने पर अभय कुमार हाथी पर बैठकर वहां से आगे बढ़े। अभय कुमार की यह प्रक्रिया पास के सभी उमराव-सरदार अधिकारी देख रहे थे। उन्हें यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा था और बुद्धि के निधान अभय कुमार की बुद्धि पर उन्हें तरस भी आ रही थी, वे सोचने लगे कि क्या आज अभय कुमारजी की बुद्धि को काठ मार गया है? यहां तो ये मगध सम्राट श्रेणिक के पुत्र राजकुमार और ऊपर से (उसी जनपद के प्रधानमंत्री) सूझ-बूझ के धनी, ऋद्धि-समृद्धि के अन्दर जीने वाले प्रधानमंत्री अभय कुमारजी और कहां यह साधु। जो कल तक एक लकड़हारा था। जंगल से लकड़ियां काटकर गड्ढर बांधकर शहर में लाकर उन्हें बेचता, और उससे जो मिलता उसी से अपना एवं अपने परिवार का पालन-पोषण करता था। यह गरीब लकड़हारा साधुओं की संगत में आकर साधु बन गया तो इसका यह तो मतलब नहीं कि यह एक दिन में ही इतना वन्दनीय-पूजनीय हो जाय कि मगध का प्रधानमंत्री भी उन्हें वन्दन-नमस्कार करें। इसी सोच-सोच के साथ उमरावों के चहरे पर अभय कुमारजी की वन्दन विधि के साथ ही एक भेदभरी मुस्कराहट फैल गयी। जो अभय कुमारजी से छिपी नहीं रह सकी। उन्होंने इस बात को समझने के लिए फिलहाल उपयुक्त अवसर नहीं देखा। सोचा इन्हें प्रायोगिक रूप से ही यह बात समझानी होगी।

एक दिन सभा के बीच अभय कुमार ने रत्न राशि के तीन ढेर करवाये, और उपस्थित सभी उमरावों, सरदारों को सम्बोधित करते हुए कहा कि-जो व्यक्ति निम्न तीन प्रतिज्ञाओं को जिन्दगी भर के लिए स्वीकार करता हो, उसे यह तीन रत्न राशि के ढेर दे दिये जायेंगे। वे तीन प्रतिज्ञाएं ये हैं-

- |  |            |
|--|------------|
| (1) जिन्दगी भर तक पूर्ण रूप से अग्नि का आरंभ-समारंभ नहीं     | करना।      |
| (2) जिन्दगी भर तक पूर्ण रूप से (सचित्त) कच्चे पानी का आरंभ   | नहीं करना। |
| (3) जिन्दगी भर तक पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना। |            |

आप में से कितने व्यक्ति इन तीन प्रतिज्ञाओं को लेने के लिए तैयार हैं? वे आगे आवे और प्रतिज्ञा कर यह रत्न राशि ग्रहण करें। पूरी सभा स्तब्ध रह गयी, एक भी व्यक्ति इस बात के लिए तैयार नहीं हुआ। तब अभय कुमार ने कहा कि-अगर इन तीन में से भी कोई एक प्रतिज्ञा को भी ग्रहण करने के लिए तैयार हो तो उसे रत्न राशि का एक ढेर दे दिया जायेगा। पर इसके लिए भी कोई तैयार नहीं हुआ। तब प्रधानमंत्री अभय कुमारजी ने सभी को ललकारते हुए कहा-है उमरावों! सरदारों क्या एक भी वीर ऐसा नहीं जो इसमें से एक भी प्रतिज्ञा को ग्रहण कर सके। फिर भी जब कोई तैयार नहीं हुआ। तब प्रधानमंत्री ने समझाया कि जब मैं उन मुनिराज को वन्दन कर रहा था। तब आपको मन ही मन हंसी आ रही थी। आखिर क्यों?

इसीलिए कि कल वह दर-दर का भिखारी लकड़हारा था, और आज महाराज बन गया तो उसे क्या प्रणाम किया जाय? उसके पास था ही क्या? जो उसने छोड़ा है, और हम उसके त्याग की नमस्कार करें।

पर विचार करिये मैंने जो तीन प्रतिज्ञाएं आपके सामने रखी, जिनको ग्रहण करने वाले व्यक्ति को यह रत्न राशि देने के लिए तैयार हो गया, तथापि उन्हें कोई ग्रहण नहीं कर सका। जबकि उन मुनिराज जो कल लकड़हारे के रूप में थे उसने ये तीन प्रतिज्ञा ही नहीं। बल्कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को पूर्ण रूप से पालन करने की तीन करण, तीन योग से प्रतिज्ञा ले रखी है। उसके सामने यह रत्न राशि के ढेर भी नगण्य है। बोलिये उन का त्याग कितना बड़ा है, महान है?

तब समझ में आया उन उमरावों को। अभय कुमार की बुद्धि से तो वे प्रभावित हुए ही, साथ ही उन मुनिराज के प्रति जो उनके मन में हीन भावना उभरी थी, वह भी श्रद्धा के रूप में परिवर्तित हो गयी।

उदाहरण भले कोई भी रूप में घटित क्यों न हुआ हो, हमें कलेवर की खींचातानी में न उतरकर यह समझना है कि साधु का त्याग इतना महान त्याग होता है कि उसके सामने गृहस्थ की विशाल ऋद्धि-समृद्धि भी नगण्य है।

ऐसे त्यागी महापुरुषों को भावयुक्त वन्दन नमस्कार करने से पुण्यबन्ध के साथ कर्मों की विशिष्ट निर्जरा भी होती है। निर्जरा का यह रूप आगे बढ़ता हुआ सदा-सदा के लिए अनादि अनंतकाल के कर्म-बन्धन को हटाकर परमात्म रूप को जागृत करने वाला बन जाता है।

जैन दर्शन में भक्त-भक्त ही रहेगा और भगवान-भगवान ही रहेंगे। इस बात को कभी भी मान्यता नहीं दी है। वहां तो भक्त को भगवान बनने का संबल प्रदान किया है। भक्त सच्चे मन से प्रभु की उपासना करता है तो एक दिन वह भी उसी के अनुरूप बन जाता है, जैसा कि दोहे में बतलाया जाता है-

**सिद्धा जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय ।**

**कर्म मैल का आन्तरा, बुझे विरला कोय ।**

उस कर्म मैल के अन्तर को काटने के लिए ही उन महापुरुषों की वन्दना, उसका प्रथम चरण है। उस वन्दना को सही तरीके से करने के लिये अन्तःकरण की जागृतिपूर्ण तैयारी होनी चाहिये।

**वन्दन को कसौटी पर कसते रहिये**

मैं आपके समक्ष क्या कुछ कहूं ? कहने की इच्छा और कुछ थी लेकिन प्रार्थना वन्दन से पूरी नहीं हुई थी इसलिए आपके सामने वन्दन की बात तथा उसके प्रतिपक्षी तत्व अहंकार की बात कर गया। वन्दन करते हुए व्यक्ति यदि यह सोचता है कि मैं वन्दन करके महाराज का मान बढ़ा रहा हूं तो वस्तुतः वह वन्दन नहीं कर रहा है। उस वन्दन में वास्तविकता तभी आ सकेगी, जब आप महात्मा के सद्गुणी जीवन को देखकर श्रद्धापूर्वक प्रभावित बनेंगे तथा अपने अन्दर रहे हुए विकारों को बाहर निकाल कर अन्तःकरण को शुद्ध बनाते हुए विनम्रता पूर्वक वन्दन करेंगे।

वन्दन को अपनी आन्तरिक भावना की कसौटी पर नित प्रति कसते रहिए और अपनी आत्म शुद्धि के तारतम्य को देखते रहिये: उससे ज्यों-ज्यों आपके भीतर बैठा अहंकार गलता जायेगा, त्यों-त्यों वन्दन अधिकाधिक भावपूर्ण बनता जायेगा, आत्मा में स्वच्छता, निर्मलता, तथा पवित्रता का समावेश होता जायेगा। इससे कर्मों के समूह टूटते चले जायेंगे और तब आत्मा के लिये किसी दुविधा का प्रसंग नहीं रहेगा। उसका विकास सुनिश्चित हो जायेगा।

31-8-77

**आकाश और इच्छाओं का अन्त नहीं**

**मनुष्य का जीवन सारी सृष्टि के सारतत्वों में एक हैं। ज्ञानी-जन सारी सृष्टि को देखते हैं। इसीलिए मानव जीवन को सर्वश्रेष्ठ जीवन माना है। इच्छाओं का कोई अन्त नहीं। महावीर ने इच्छाओं को आकाश के समान अनन्त बताया है। आकाश का किनारा कोई देख नहीं सकता। इच्छाओं के पीछे मानव दौड़ता रहा। इन इच्छाओं में जब जीवन उलझ जाता है तो वह कहीं का नहीं रहता इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य दौड़ कर अपना जीवन समाप्त कर देता है। जब उसकी इच्छा पूरी हो जाती है तब वह नई-नई इच्छाओं को जन्म देता है। मनुष्य पहले बच्चों की कामना करता है, फिर शिक्षा की चिन्ता, फिर भरण-पोषण का उतरदायित्व फिर उनके विवाह की इच्छा फिर बेटों-पोतों का उलझत रहता है। वह पोते-पोतियों को देखकर तृप्त हो जाता है। ये इच्छाएं समाप्त होते ही परम आनन्द की अनुभूति होने लाती है।**

**पत्थर की गाय से कोई दूध प्राप्त करना चाहे तो क्या उसकी इच्छा पूर्ण हो सकती है। मनुष्य जीवन से बढ़कर और कोई जीवन नहीं है। मनुष्य योनि से बढ़कर और कोई योनि नहीं है। आत्मा का स्वभाव**



**चेतना मय है। मनुष्य अगर इस जीवन को सार्थक बनाना चाहें तो अपनी आत्मा का परमात्मा के समकक्ष बना सकता है।**

**बहनों को जान लेना चाहिये कि हमने पूर्व जन्म में अच्छी करनी नहीं की। इसीलिए स्त्री जन्म मिला यदि मनुष्य ने जीवन को नहीं समझा रंग-बिरंगी इच्छाओं को नहीं रोका तो कहीं स्त्री शरीर न मिल जाय। बहने पुरुष नहीं हो जाय। जीवन को स्वस्थ और सुव्यवस्थित विकास के लिए इच्छाओं का अन्त नहीं किया जायगा तो विवेक रखने से इच्छाओं का अन्त हो सकता है। बाहर के दृश्य बड़े लुभावने और आकर्षक होते हैं। मोह और अभिमान इच्छाओं को जगाता है। अगर इन पर नियन्त्रण किया जाय तो इच्छाओं का लुभावना स्वरूप समाप्त हो सकता है।**

**श्री सुपाशर्व जिन वंदिए.....**

इस जीवन की शुभ वेला में शुभ कार्य की महत्ता रही हुई है। मनुष्य का जीवन यह ऐसा वैसा जीवन नहीं है-सारी सृष्टि के सार तत्वों में से एक हैं। इस जीवन की महत्ता ज्ञानीजन ही आंक सकते हैं। उनकी दृष्टि दीर्घ, विशाल तथा व्यापक होती है। वे सारी सृष्टि के भीतर रहने वाले जीवों को देखते हैं, उनकी अवस्थाओं तथा प्रवृत्तियों की समीक्षा करते हैं एवं तब निर्णय लेते हैं कि सारे जीवनों में कौनसा जीवन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिये ? उनकी दृष्टि में जीवन ऐसा होना चाहिये, जिस जीवन में उचित एवं अभिवांछित फल की प्राप्ति की जा सके। इस दृष्टि से मानव जीवन को सर्वश्रेष्ठ जीवन माना गया है।

यह अभिवांछित फल क्या और क्यों ? इच्छा के अनुसार फल को क्या किसी सीमा में बांधा जा सकता है ? कारण इच्छाओं का कोई अन्त नहीं होता है। महावीर प्रभु ने इच्छाओं को आकाश के समान अनन्त बताया है। जिस तरह आकाश का अन्त नहीं आता-उसका किनारा कोई देख नहीं पाता, उसी तरह इच्छाओं का भी अन्त नहीं आता है, क्या इतनी अनन्त इच्छाओं के पीछे मानव दौड़ता रहे या उन इच्छाओं पर अपना नियन्त्रण स्थापित करें ?

**ये अनन्त इच्छाएं होती हैं  
नाशवान पदार्थों के सम्बन्ध में**

इस जीवन में की जाने वाली इच्छाओं का कोई अन्त नहीं, कोई ओर छोड़ नहीं और कोई किनारा नहीं। ऐसी अनन्त इच्छाओं में जब इन्सान उलझ जाता है या डूब जाता है तो वह कहीं का नहीं रहता न इधर का न उधर का। जिन इच्छाओं को आकाश के समान अनन्त बताया है, वे इच्छाएं नाशवान पदार्थों के प्रति रुचि से सम्बन्ध रखती हैं, ये इच्छाएं दृश्य तत्वों को प्राप्त करने की होती हैं ताकि अमुक वस्तु की उपलब्धि हो जाय तो तृप्ति मिल जाय। इस रूप में अनेकानेक इच्छाएं इस मनुष्य के मन में पैदा होती हैं और उन इच्छाओं की पूर्ति हेतु वह अपने इस अमूल्य जीवन को समाप्त कर देता है।

इच्छित वस्तु के प्रति उसकी लालसा भभक उठती है। वह सोचता है कि जब तक वह वस्तु प्राप्त नहीं हो जायगी, वह उसके सम्बन्ध में चाहे सही ढंग से और नहीं तो गलत ढंग से भी प्रयत्न करता रहेगा। वह इच्छा इतना प्रबल रूप ले लेती है कि उसकी पूर्ति में फिर गलत और सही का भेद नहीं रहता है, नीति और अनैति का विचार गौण हो जाता है। किसी भी प्रकार जब वह इच्छा पूरी हो जाती है तो उससे वह सन्तुष्ट नहीं होता है। एक के बाद एक करते हुए नई-नई इच्छाएं जन्म लेती रहती हैं। इच्छाओं की पूर्ति से इच्छाएं समाप्त नहीं होती, बल्कि इच्छाओं का क्रम और दौर बढ़ता जाता है।

आप इच्छाओं के इस उद्दाम क्रम को सामान्य जन के जीवन में, बल्कि कई अंशों में अपने ही जीवन में देख सकते हैं तथा अपने विषय में तो स्वस्थ विचार के साथ अनुभव भी ले सकते हैं। किसी व्यक्ति के जब तक संतान का जन्म नहीं होता है, तब तक तो इच्छा यह रहती है कि कोई सन्तान प्राप्त हो। उस इच्छा पर उसका ध्यान केन्द्रित रहता है। लेकिन जैसे ही सन्तान की पूर्ति हुई तो उसकी इच्छा आगे बढ़ जाती है और वह सोचता है कि इस सन्तान का लालन पालन करूं, उसकी विवाह शादी करूं तथा उसको सम्पत्ति कमाने के योग्य बनाऊं। इसके लिये वह उस प्रकार के साधन जुटाता है। इस काम में उसकी इच्छाएं घुलती रहती है। जब वह सन्तान को अपने व्यापार धंधे में योग्य बना देता है तथा उसका विवाह कर देता है तो आप जानते ही हैं कि आगे कौन-सी इच्छा पैदा होती है ?

आप अपनी भाषा में क्या बोलते हैं-पोता ? तो उस पौत्र का मुंह देखने की इच्छा जागती है। यदि पौत्र का मुंह देख लिया तब भी इच्छा तृप्त कहा होती है? वह चक्र फिर चलता है कि इस पौत्र का विवाह हो जाय वह भी योग्य बन जाय और उसके भी सन्तान हो जाय याने कि परदादा बनने की इच्छा पैदा हो जाती है। क्यों सेठिया जी, बढ़ रही हैं न इच्छाएं ? आप के पड़पोता भी आ गया, अब आगे क्या इच्छा है? आपसे ही क्या पूछूंगा? जितने भाई बैठे हैं, सब की प्रायः करके ऐसी ही इच्छाएं चलती रहती हैं। इस रूप में इस जीवन में इच्छाओं की समाप्ति कब और कहां होती है?

लेकिन यदि नाशवान पदार्थों के सम्बन्ध में कल्पना करें कि सभी इच्छाएं पूरी होती रहें, तब भी क्या इस मन को कभी भी सन्तोष होगा? आकाश अनन्त, इच्छाएं अनन्त और मन की तृष्णा अनन्त इनका अन्त एक सन्तोष करता है, वह सन्तोष जो आध्यात्मिक तत्त्व को समझ लेने के बाद पैदा होता है।

## इच्छाओं के मूल को पकड़ें

इस महत्त्वपूर्ण सूत्र को पकड़े कि आखिर ये सारी इच्छाएं कहां से उठती हैं ? इससे इन सारी इच्छाओं के मूल का ज्ञान हो सकेगा। यह ज्ञान आप उन्हीं इच्छाओं से लें जिनके साथ आप अभी सम्बन्धित बने हुए हैं। उन इच्छाओं के मूल को यदि आप विवेकपूर्वक समझ लेंगे तो प्रयत्न करते हुए उन सभी इच्छाओं को समाहित भी कर सकेंगे। आप इच्छाओं के मूल पर ही प्रहार करना चाहेंगे और यदि आपका वह प्रहार सबल बन गया तो आपको एक ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होगी, जिस आनन्द का अनुभव इन बाह्य पदार्थों में कभी भी नहीं हो सकता है। यह आन्तरिक आनन्द होता है जो आन्तरिक उपलब्धि के प्रसंग से ही प्राप्त हो सकता है।

ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द संसार के दृश्यमान तथा नाशवान पदार्थों की उपलब्धि से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है। पत्थर की गाय की मूर्ति के स्तनों से यदि कोई दूध निकालना चाहे अथवा उन स्तनों को मुंह में लेकर दूध का मधुर स्वाद लेने की इच्छा रखे तो बताइये कि क्या उसकी इच्छा पूरी हो सकेगी ? क्या उस गाय को दूहने से दूध निकल सकेगा ? और यदि दूध ही नहीं निकलेगा तो दूध का स्वाद मिलने का तो प्रश्न रहता ही कहां है? जिसके मूल में दूध नहीं होता है, उसमें कोई भी मंत्रवाद या तंत्रवाद दूध नहीं ला सकता है। किन्तु जिसके मूल में दूध होता है तो व्यक्ति बाहरी प्रयत्नों से दूध की मात्रा को घटा बढ़ा सकता है- दूध को नये सिर से पैदा नहीं कर सकता है।

जैसे पत्थर की गाय के स्तन में दूध पैदा करने की शक्ति किसी में नहीं है वैसे ही यदि कोई व्यक्ति इन सांसारिक पदार्थों में से आनन्द का रस लेना चाहे तो उनमें से उसको कोई रस नहीं मिलेगा। जो कुछ भी रस मिलता है, वह जिसमें रस होगा उसी में से मिलेगा। वास्तविक स्थिति तो यह है कि मनुष्य अपनी ही भावना को पदार्थ में भर कर देखता है और आनन्द का आभास लेता है। वह उस आभास में स्वयं के जीवन की स्थिति को नहीं लेता है। आपने देखा होगा, एक कुत्ता सूखी हड्डी को मुंह में लेकर चबाता रहता है। वह उसमें से खून चूसने की इच्छा रखता है, लेकिन क्या उसको उस सूखी हड्डी से खून मिलता है? सूखी हड्डी से तो खून नहीं मिलता, लेकिन उस सूखी हड्डी को चबाते रहने से उसी के जबड़ों से खून निकलता है और वह उस खून का स्वाद लेते हुए यह समझता है कि उसको खून हड्डी से मिल रहा है।

इसे झूठी सुखद भ्रान्ति कह लीजिये या झूठा सुखाभास, लेकिन सोचिये कि ऐसी भ्रान्ति और ऐसा आभास क्या उस कुत्ते के पास में ही है अथवा मनुष्य के पास में भी है? शायद है, मनुष्य के पास में इसका भण्डार ज्यादा है, क्योंकि आकाश के समान उसके पास में अनन्त इच्छाएं हैं। मनुष्य भी आत्मानन्द से विहीन बना हुआ इस संसार के बाह्य पदार्थों की सूखी हड्डियों को चबाता है और अपने आत्म स्वरूप की क्षति करता हुआ आनन्द मानता है। उसका वह आनन्द पत्थर की गाय के दूध के स्वाद के समान कोरी कल्पना और झूठी कल्पना का ही आनन्द होता है। उसको वही अज्ञानी मनुष्य आनन्द मानता है, जो आनन्द की वास्तविकता को नहीं समझता है।

## आदतों का अन्त ज्ञान से, इच्छाओं का अन्त ध्यान से:

जिस प्रकार एक कुत्ता अज्ञानतावश अपने ही खून को हड्डी का खून समझ कर झूठा आनन्द लेता है, वैसे ही इस संसार के प्राणियों की भी दशा है, बल्कि यों कहें कि दुर्दशा है। कुत्ता पशु होता है लेकिन उसमें भी आत्मा होती है। आज के मनुष्य की आत्मा

भी कभी कुत्ते की पशु योनि में रही हुई हो सकती है। आज वह आत्मा कुत्ते के तन को छोड़कर मनुष्य के तन में आ गई, लेकिन वह अपने उस समय के स्वभाव को सर्वथा छोड़कर आई है- ऐसा मत समझना। आज दीखने में मनुष्य शरीर है लेकिन इस शरीर में भी उस समय के कुत्ते के स्वभाव का पुट हो सकता है। इस मनुष्य शरीर में गाय भैंस के उदार स्वभाव का पुट हो सकता है तो सांप बिच्छू के जहरीले स्वभाव का पुट भी हो सकता है क्योंकि कौन-सी ऐसी योनि है जिसमें यह आत्मा भ्रमण करके नहीं आई हो ?

इन सभी प्रकार की मनुष्य की आदतों के पीछे बहुत बड़ा विज्ञान है। मनोविज्ञान वेत्ता डॉ. फ्रायड ने मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ अनुसंधान किये और उनके बाद युग आदि अन्य विद्वानों ने विषय को आगे बढ़ाया, लेकिन ज्ञात और अज्ञात मस्तिष्क की स्थिति तक ही उनकी दृष्टि जा सकी वे आगे नहीं बढ़ सके। जबकि तीर्थकरों ने इस विषय की तह तक गोता लगाया और यह ज्ञात किया कि इस आत्मा ने जिस-जिस जन्म में जिस-जिस रूप में जिन-जिन आदतों को ग्रहण की है, वे आत्म स्वभाव के साथ बंध जाने वाली आदतें सही श्रद्धा तथा सही ज्ञान के बिना जन्म जन्मान्तरों तक छूटती नहीं हैं। जिन आदतों की यह आत्मा अभ्यस्त रही हैं, उन उन आदतों का पुट मनुष्य के इस जीवन में दृष्टिगत होता है।

देखिये जिस वक्त सर्प अपनी सर्प योनि के स्वभाव की दृष्टि से गुस्सा करता है तो किसी के पीछे तेज चाल से भागता है या फन उठाकर फुफकार करता है। उस वक्त गुस्से में सर्प के नेत्र लाल-लाल और डरावने हो जाते हैं। यह उस सर्प की आदत होती है। आप गुस्सा तब महसूस करें या दूसरे को गुस्सा आवे तब देखें कि उस समय नेत्र क्या उसी रूप में लाल-लाल और डरावने नहीं हो जाते हैं तथा उसके नथुने फडफड़ाने नहीं लगते हैं? ऐसी क्या मनुष्य की आदत होती है? यह तो सर्प की आदत है जो मनुष्य ने अपनी मनुष्य योनि में भी पकड़ रखी है। मनुष्य योनि का स्वभाव तो देव पुरुषों के समान उदार और सहृदय होता है। ज्ञानियों ने कहा है कि मनुष्य योनि के समान दूसरी कोई भी योनि श्रेष्ठ नहीं है। मनुष्य के जीवन से बढ़कर अन्य कोई जीवन नहीं है।

लेकिन मनुष्य ने अनेकानेक योनियों की आदतों को अभी भी पकड़ रखी है। मनुष्य के चाल चलन और रहन-सहन में भी अन्य योनिधारियों के स्वभाव का अंश ढूँढा जा सकता है। उन आदतों को सम्यक् ज्ञान के साथ ही छोड़ सकेंगे, अतः उनके सम्बन्ध में पुरा ज्ञान लीजिये और संकल्पबद्ध होकर उनको छोड़ दीजिये। आदतों का अन्त ज्ञान से होगा तथा इच्छाओं का अन्त ध्यान से होगा।

## इच्छाओं की उलझनों में मूल तत्त्व की विस्मृति:

मैं यह अवश्य कहूँगा कि ज्ञानियों ने और तीर्थकरों ने यह बताया है कि किस किस मनुष्य का कौन-कौन से जन्म का स्वभाव इस जन्म में कब-कब उभर कर आता है-इसका पता स्वयं मनुष्य को भी नहीं लग सकता है। इन्हीं विभिन्न योनियों के विकृत स्वभावों में उलझ कर मनुष्य संसार के नाशवान पदार्थों की अपार इच्छाओं के दल-दल में फंस जाता है। तो ज्ञानीजनों का कथन है कि इन इच्छाओं के मूल में पहुंच जाइये। इनके मूल में पहुंच जायेंगे तो आप इन इच्छाओं की तथा इच्छाओं की पूर्ति से पैदा होने वाले आनन्द की वास्तविकता को भी समझ जायेंगे।

एक व्यक्ति आम्र वृक्ष की टहनियों और पत्तों को पकड़ कर चलता है तथा दूसरा व्यक्ति उस वृक्ष के मूल को लेकर चलता है तो जो मूल को लेकर चलता है, यह माना जा सकता है कि वह टहनियों, पत्तों तथा फल फूल को भी लेकर चल रहा है, लेकिन एक टहनी को लेकर चलने वाले को नहीं कह सकते कि वह मूल को लेकर चल रहा है। वैसे ही यह मनुष्य अपने जीवन की टहनियों को ही पकड़ कर आगे बढ़ने का दावा करें तो वह दावा सही नहीं होगा। उसे पहले मूल को पकड़ना चाहिये तथा मूल के सहारे टहनियों पत्तों, फूल आदि को वह ग्रहण करें। मनुष्य जीवन का मूल है उसकी अपनी ही चैतन्यमय आत्मा। आत्मा का मूल स्वभाव चेतनामय है और इसी मूल को पकड़ने की आवश्यकता है। वह जो जड़ पदार्थों के पीछे भागती है-यह उसका अपना स्वभाव नहीं है।

इस मूल तत्त्व-आत्म तत्त्व की विस्मृति इसी आत्मा को हो रही है और उसका मूल कारण अन्तहीन इच्छाओं की उलझनों में उलझ कर रह जाना है। इसलिये आत्मा के स्वभाव के मूल इस चैतन्य रूप को हृदयंगम कर लेना चाहिये। ऐसा करने से जड़ का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा और यह तथ्य समझ में आ जायगा कि जड़ और चेतन के स्वभाव भिन्न-भिन्न ही नहीं, विपरीत से होते हैं।

वैसी अवस्था में अपने चैतन्य के प्रकाश को खोजने की वृत्ति बनेगी और जड़ता के अन्धकार से दूर हटने का उपक्रम होगा। इस उपक्रम से विकार दूर होंगे और कर्मों का मैल कटेगा तथा इसके साथ ही इच्छाओं के धोखा देने वाले चित्र विचित्र रंग भी उड़ जायेंगे।

विवाह शादियों के अवसर पर आप रंग-बिरंगे बल्ब व ट्यूब लगाते हैं। आप न मालूम उन पर कितना व्यय कर देते होंगे ? पैसा कमाते समय आपने अपनी अमूल्य आत्म शक्ति को विस्मृत की, छल बल और पाप से पैसा कमाया और एक ही रात्रि के लिये सारे मकान को बिजली की रंग-बिरंगी बलियों से सजा कर कितने जीवों का घात करते हैं तथा पुनः पाप से हाथ रंग लेते हैं। इससे आपको कौनसी आत्म तुष्टि मिल जाती है? हां तो मैं कह रहा था कि अलग-अलग रंगों के बल्ब लगाने से रंग-बिरंगी रोशनी आती है, लेकिन मूल रोशनी रंग-बिरंगी होती है क्या? मूल रोशनी पर रंगों के आवरण बल्ब के काच के रूप में चढ़ाये जाते हैं और इससे ही रोशनी रंग-बिरंगी दिखाई देती है। उसी रूप में अपनी इच्छाओं के भांति-भांति के रंगों का ज्ञान करें। मूल रंगहीन श्वेत स्वरूप तो चैतन्य का है, अब इस सफेद कांच के गिलास में जिस रंग वाली इच्छा को भरते जायेंगे, वैसे ही रंग की वह गिलास बन जायगी। लेकिन कोई कहे कि गिलास ही अमुक रंग की है तो यह समझिये कि उसको मूल का ज्ञान नहीं है। अपने चैतन्य को इन इच्छाओं के अलग-अलग रंगों से जोड़कर चलते हैं तो इन रंगों को ही आत्म विस्मृति की दशा में सब कुछ मान बैठते हैं। आप मूल को नहीं पकड़ते-रोशनी के मूल रंग को नहीं पहिचानते। इसी कारण अनियंत्रित मन की रंग-बिरंगी वृत्तियां विचित्रता के साथ इस जीवन में चल रही हैं, उसमें कौन सा तत्त्व काम कर रहा है? विद्युत् के समान आत्म शक्ति ही वहां काम कर रही है, किन्तु मनुष्य रंगों को देखकर अपनी आत्म शक्ति को भूल जाता है।

इच्छाओं के चित्र विचित्र रंग,

इस मानव जीवन को बदरंग न बना दें :

आकाश के समान अन्तहीन इच्छाएं बाहर के तत्वों के साथ महसूस करने में बड़ी रंगबिरंगी और लुभावनी लगती है, किन्तु उनके रंग उतने ही धोखे भरे और झूठे होते हैं। इसीलिये यह आशंका पैदा होती है कि कहीं इन छलिनी इच्छाओं के चित्र विचित्र रंग इस मानव जीवन को ही बदरंग न बना दें। हकीकत तो यह है कि ये इच्छाएं अधिकांश मनुष्यों के अमूल्य जीवन को बरबाद कर रही हैं।

यदि यह आत्मा इन रंगों के मोह से ऊपर उठ जाय तो वह दूसरी आत्माओं के सामने इन झूठे रंगों का पर्दाफाश कर सकती है। उस जगृत आत्मा का यह विचार बन जाता है कि इच्छाओं के रंग नाशवान रंग है जबकि मेरा रंग इन रंगों से एकदम जुदा है। मेरा रंग शुद्ध श्वेत और धवल अविनाशी रंग है। ऐसी चेतना और भावना में यदि यह आत्मा स्थित हो जाती है तो जीवन में महान् सुखद परिवर्तन परिलक्षित हो सकता है। मनुष्य किस रंग से रंगे है-उसका जीवन किन श्रेष्ठ भावों से भरा हुआ है-उसका ही उल्लेख प्रार्थना में किया गया है। मनुष्य यदि इस जीवन को सार्थक बनाता है तो अपनी आत्मा को परमात्मा के समकक्ष बना लेता है। फिर क्या हो जाता है उसकी आत्मा का रंग? शांति सुधारस के समुद्र का क्या रंग होता है? वही इस आत्मा का रंग हो जाता है। इच्छाओं के चित्र-विचित्र रंग तब धुलकर साफ हो जाते हैं और यह मानव जीवन एकदम सुन्दर बन जाता है।

चातुर्मास का समय चल रहा है, इससे बहिन-भाई तपश्चर्या का उजला रंग लेकर चल रहे हैं। यह रंग भाइयों पर कम चढ़ता है, बहिनों पर ज्यादा। बहिनें कुछ सोचती हैं कि हमने पूर्व जन्म में अच्छी करनी नहीं की और मनुष्य जीवन को ठीक से नहीं समझा। हमने कहीं न कहीं कुछ छल किया, कहीं कपट किया-छल कपट के रंग अपनाएं सो इस जन्म में रंग-रंग की पोषाके पहिन ली। इस शरीर की पोषाक कपट के रंग से आई है-यह शास्त्रीय दृष्टिकोण है !

शास्त्रकारों ने बतलाया है कि स्त्री शरीर मिलने का कौनसा कर्म है? यह भी एक प्रकार से वैज्ञानिक बात है। गुणस्थानों में सबसे निकृष्ट पहला गुणस्थान माना गया है और उससे कुछ हल्की सी स्थिति लिये हुए दूसरा गुण स्थान होता है। यहां तक ही स्त्री शरीर का बंध होता है। लेकिन ऊपर के उज्वल गुणस्थान पुरुष वर्ग के होते हैं। इन बहिनों को सत्संग के प्रसंग से ज्ञान हो गया कि हमने पूर्व जन्म में अच्छी करणी नहीं की, इस वास्ते स्त्री जन्म मिला-पुरुष जन्म नहीं मिल सका। इसीलिये वे तपश्चर्या में आगे बढ़ती है कि पुरुष को मात दे दें। पुरुष शायद अभिमान के झूले में झूल रहे हैं-अब क्या है, जो करेंगे वह अच्छा ही होगा। लेकिन याद रखिये कि पुरुष शरीर धारण करने मात्र से बच नहीं सकते हैं। यदि जीवन को नहीं समझा, रंग बिरंगी इच्छाओं को नहीं रोक सके और रंग बिरंगे ज्यादा बने रहे तो यह शरीर छोड़ने पर रंग बिरंगी पोषाक पहिनने वाला स्त्री शरीर न मिल जाय और बहिनें

पुरुष नहीं हो जाय। यह आपके हाथ की बात है। शरीर पर्याय का प्रसंग आत्मिक स्वरूप के ज्ञान के साथ सम्बद्ध है। इसलिये रंग बिरंगी इच्छाओं पर नियंत्रण रखिये और इस जीवन को उजला बनाते रहिये।

इच्छाओं का अन्त कैसे हो ?

अनूठे इन्साफ की एक अनूठी कहानी

जीवन में ये अन्तहीन इच्छाएं बड़ा द्वन्द्व मचाती हैं और जीवन को अस्त-व्यस्त बनाये रखती हैं। इसलिये जीवन के स्वस्थ एवं सुव्यवस्थित विकास के लिये इच्छाओं का अन्त किया जाना आवश्यक माना गया है। अपनी इच्छाओं का सुखद अन्त करने के लिये आपको स्वयं को अपने जीवन-अपने आत्म स्वरूप का निर्णायक बनना पड़ेगा। सोचें कि किसी प्रसंग से आप स्वयं न्यायाधीश बन जाय तो आप अपने ही वर्तमान जीवन के सम्बन्ध में क्या फैसला देंगे। फैसला देंगे तो अपने जीवन की सभी तरह से समीक्षा करनी होगी-उसका सही मूल्यांकन आंकना पड़ेगा और तभी उसके गुणावगुणों के बारे में निर्णय लेना पड़ेगा। आप बाहर के न्यायाधीश बने या नहीं बने, लेकिन अपने भीतर के न्यायाधीश अवश्य बनें और इस अपने ही जीवन का इन्साफ जरूर करें।

इस जीवन का सही इन्साफ तभी होगा, जब जीवन के मूल को समझ लेंगे और यह समझ लेंगे कि आत्मा किस प्रकार अपने मूल से दूर हटती गई और विकारी बनती गई तो आप उस विकारपूर्ण जामे को उतार फेंकने के लिये तत्पर बन जायेंगे। तब आपका चैतन्यपूर्ण विवेक जागृत हो जायगा और इस विवेक के आगे इच्छाओं का दबाव ही खत्म नहीं होगा, बल्कि इच्छाओं का अस्तित्व ही समाप्त होने लग जायेगा।

इच्छाओं का अन्त आ जायेगा तो इस शरीर पिंड में रहते हुए भी आत्मा शुद्ध स्वरूप ग्रहण करेगी। इच्छाओं के दबाव और इच्छाओं के अन्त से सम्बन्धित अनूठे इन्साफ की एक अनूठी कहानी याद आ गई है। एक राजा के दरबार में एक विचित्र मुकदमा फैसले के लिये पहुंचा। दो बहिनों का मुकदमा था-वे दोनों झगड़ रही थीं। वे दोनों एक ही पति की दो पत्नियों के रूप में थीं। एक सेठ ने जीवन को बिना समझे दो विवाह कर लिये थे। जहां भिन्न भिन्न स्वभाव की दो पत्नियां आ जाये, वहां पति का कैसा हाल हो जाता है? भाँग तो पी लेते हैं लेकिन उसकी लहरें लेना मुश्किल हो जाता है। यही हाल उस सेठ का हो रहा था। सेठ को एक पत्नी से पुत्र उत्पन्न हुआ और लम्बे समय तक दूसरी पत्नी के कोई सन्तान नहीं हुई। दोनों के बीच में एक ही बच्चा था। घर में धन वैभव बहुत ज्यादा था, इसलिये दोनों के मन में इच्छाओं का भी अम्बार लगा हुआ था।

जिसकी कुक्षि से पुत्र जन्मा था, उसने सोचा कि घर की सारी सम्पत्ति का उपयोग करने वाला तो मेरा पुत्र ही रहेगा और यह सोच-सोच कर वह प्रसन्न रहती थी। दूसरी ने सोचा कि बच्चा जिसके पास रहेगा, सेठ जी के चले जाने के बाद सम्पत्ति उसी पत्नी के पास रहेगी सो मैं इस अबोध बच्चे को इतने स्नेह से अपना लूं कि वह मुझे ही मां मानकर चले। दूसरी बच्चे का बहुत ही स्नेह से लालन पालन करने लगी। पहली पत्नी को भी उस के इस कार्य से प्रसन्नता ही होती थी, वह उसकी इस चालाकी को नहीं समझ पाई थी।

दोनों स्त्रियां अपनी अपनी इच्छाओं के झूले में झूल रही थी। जब-जब सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रश्न आया तो दोनों के बीच में झगड़ा पैदा हो गया क्यों कि दोनों में से प्रत्येक उस बच्चे को अपना पुत्र बता रही थी और सारी सम्पत्ति के स्वामित्व की मांग कर रही थी- यही झगड़ा राजा के दरबार में प्रस्तुत था। राजा ने काफी दिमाग लगाया और उसे कोई हल नजर नहीं आया तो उस मुकदमे का फैसला करने का महारानी ने बीड़ा उठाया। महारानी ने दोनों को बुलाया और कहा मैं प्रयोग की दृष्टि से एक निर्णय देती हूं और आवश्यक लगा तो उसको बाद में बदल भी सकूंगी। वह निर्णय यह है कि झगड़ा नहीं ही सुलझता है तो इस बच्चे को ठीक दो भागों में चीर दो और एक-एक भाग दोनों ले जाओ। जो कृत्रिम माता थी, वह तो मन ही मन खुश होने लगी कि झगड़े की जड़ ही खत्म हो जाएगी, लेकिन जो असल मां थी, वह तो यह निर्णय सुनते ही अवाक् रह गई और रोती हुई बोली महारानीजी, आप बच्चे का अन्त नहीं करावें, मैं अपनी इच्छाओं का ही अन्त कर लेती हूं। आप बच्चे को मेरी सौत को दिला दीजिये, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं अपने झगड़े को वापिस लेती हूं। तब तुरन्त महारानी समझ गई कि हकीकत में वह बच्चा दोनों में से किसका पुत्र है ?

महारानी ने तब घोषणा की-यह बच्चा अपनी इस असली मां को सौंपा जाता है और घर की सारी सम्पत्ति इसी के पास रहेगी-दूसरी पत्नी को केवल अपने निर्वाह योग्य धन ही मिलेगा। इस प्रकार महारानी ने ऐसा अनूठा इन्साफ किया कि दूध का दूध और पानी का पानी हो गया।

यह अन्तःकरण की आन्तरिक स्थिति का फैसला था। यह फैसला भगवान् सुमतिनाथ की माता ने किया था जब भगवान् उनके गर्भ में आ चुके थे। सुमतिनाथ जी की माता का यह फैसला अनूठा था। अन्तर्ज्ञान जब रंग बिरंगे रंग छोड़ कर उजला रंग अपना लेता है, तभी ऐसा इन्साफ बन पड़ता है।

## अन्तहीन इच्छाओं के जाल से निकलें और आत्मा के मूल तत्त्व को पहिचानें

अब आप सोचिये कि अपने करो क्या करना है? सन्तों के समीप में जाकर परमात्मा की प्रार्थना करके अपने जीवन को कैसा बनाना है? रंग बिरंगे तत्त्वों में ही उलझे रहना है और उलझते जाना है अथवा आत्मा के मूल तत्त्व को पहिचानना है? बाहर के दृश्य बड़े लुभावने हैं लेकिन मेरा-मेरा कहने से काम नहीं चलेगा। यह व्यर्थ का मोह और अभिमान है जो अन्तहीन इच्छाओं को जगाता है। यह मत सोचें कि दुनिया का काम आपके बिना नहीं चलेगा। जैसा एक कूकड़े वाली बहिन सोचती थी कि उसका कूकड़ा नहीं बोलेगा तो भला सवेरा ही कैसे हो सकेगा?

दुनिया का यह प्रवाह तो चलता रहता है जो इस प्रवाह में से निकलने का विवेक जगा लेता है, वह अपने आत्म विकास के मार्ग पर आगे बढ़ जाता है और जो अन्तहीन इच्छाओं के जाल में फंसा हुआ ही रह जाता है, वह इस प्रवाह में गोते खाता रहता है और चट्टानों से टकरा-टकरा कर अपने आत्म स्वरूप को क्षत-विक्षत बनाता रहता है।

संकल्प लीजिये की इस अमूल्य मानव जीवन को सार्थक बनाना है तथा आत्मा को अज्ञान और विकारों के दलदल से बाहर निकालनी है। अपने सम्पूर्ण जीवन को बदरंग नहीं रखकर श्वेत और उज्वल बनाना है। अनन्त आकाश के समान इन अनन्त इच्छाओं से मुक्ति पा लें।

दि.1.9.77

## मनुष्य को देवताओं का नमन

*मनुष्य जीवन जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही वह कोमल और क्षण भंगुर है। इस जीवन को सार्थक बनाने में प्रमाद बाधक है। कपूर की तरह मानव जीवन जल्दी समाप्त हो जाता है। प्रतिक्षण यह शरीर गल रहा है। क्योंकि जो व्यक्ति इस अमूल्य मानव जीवन के महत्व को समझ लेता है। उसका जीवन सार्थक हो जाता है। धर्म में लगा हुआ जीवन आदर्श जीवन हो जाता है। इसलिए देवता भी मनुष्य को नमन करते हैं। मनुष्य अपने जीवन को खपा देता है। जब तरुणायी ढलने लगती है। जो रूप और बल पहले था, वह अब नहीं रहा। परिवर्तन की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। और मनुष्य का तन खोखला हो जाता है। जीवन कब बिखर जाय और इहलीला कब समाप्त हो जाय। इसका कोई भरोसा नहीं है। आत्मा शरीर की संचालन शक्ति है। आत्मा और शरीर के सहयोग से जीवन बनता है।*

*देवों का शरीर दिया कहलाया है। मनुष्य का जीवन बादल के समान होता है। मनुष्य का शरीर देवताओं के शरीर से अधिक भव्य होता है। देवता भी चाहते हैं कि उन्हें मानव जीवन मिले। मानव जीवन में साधना का और पवित्र भावों का महत्व है।*

*श्रावक तीर्थंकरों की वाणी को अपने जीवन में उतारता है। केवल ज्ञान प्राप्त होने के कारण तीर्थंकरों ने चार तीर्थों की स्थापना की है। साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका। श्रावक एक प्रकार से साधुओं का धरातल होता है। बाहर से धोने पर जीवन पर कोई असर नहीं पड़ता, अन्तरात्मा को धोने की है। आत्म शुद्धि*

*अन्दर के स्नान से होगी। गन्दगी हट जाय और फिर गंदगी न आये। इसी तरह अन्तःकरण को धोने के बाद पवित्रता आ जाती है। जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है तब आपका तीर्थ पद गौरव प्राप्त कर सकेगा। मानव का शरीर मक्खन के समान कोमल और सारपूर्ण है। इन्सान के चोले में रहकर मनुष्य जीवन को सार्थक बनाले। देवता मनुष्य को नमन तो करें, किन्तु साधक के लिए जिसका जीवन विकार पूर्ण है। उसे नमन नहीं करें तो ही अच्छा। मनुष्य अपने जीवन का सदुपयोग करें संसार उसके लिए झुक जायगा।*

**श्री सुपाशर्व जिन वंदिए.....**

इस जीवन की वर्तमान दशा को देखते हुए मनुष्य का स्वयं का कर्तव्य है कि वह अब तो सही दिशा में सोचना आरंभ करें। यह मनुष्य जीवन-जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही वह कोमल और क्षणभंगुर भी है। इसी जीवन में आत्मा के महान् स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकते हैं, किन्तु इस महान् कार्य को सम्पादित करने में प्रमाद अत्यन्त बाधक सिद्ध होता है, क्योंकि इस जीवन की तुलना कपूर की डली से की गई है। कपूर की टिकिया को यदि कोई व्यक्ति अपनी मुठ्ठी में बन्द करके भी रखे और सोचे कि मैं इसको उड़ने नहीं दूंगा, तब भी क्या वह टिकिया लम्बे समय तक टिकी रह सकेगी ?

आपने अनुभव किया हो या नहीं किया हो, कपूर का स्वभाव उड़ने का होता है, किन्तु इससे भी अधिक नश्वर होता है मनुष्य का जीवन। कोई सोचे कि मेरा शरीर तो वैसा ही है जैसा पहले था तो यह उसके सोचने की भूल है। प्रतिक्षण यह शरीर गल रहा है-जीवन व्यतीत हो रहा है। लेकिन जो क्षण के महत्व को समझ लेता है, क्षण को पकड़ लेता है व उसको धर्म में लगा देता है वह अपने जीवन को आदर्श बना लेता है। इतना आदर्श कि देवता भी उस मनुष्य को नमन करते हैं। वह देवताओं के लिये भी वन्दनीय हो जाता है, क्यों कि वह अपने जीवन को सदा-सदा के लिये धर्म में रमा देता है-धर्म के लिये खपा देता है।

**परिवर्तन प्रक्रिया से आत्म बोध**

कोई आज आपसे पूछता है कि आपकी तबीयत कैसी है ? आप कह देते हैं-बहुत अच्छी है। फिर वही व्यक्ति महीने भर बाद पूछता है-आप की तबीयत कैसी है ? आप उत्साह से कहते हैं-तबीयत पहले जैसी ही बहुत अच्छी है। यह स्थूल कथन है। लेकिन महीने भर पहले जो शरीर था, समझ लीजिये कि वह महीने भर बाद नहीं रहा। उसमें परिवर्तन है। जीवन में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। इतना शीघ्र और इतना सूक्ष्म परिवर्तन प्रतिक्षण होता है कि स्वयं मनुष्य भी उसको समझ नहीं पाता है। इसीलिये आयु चालीस के ऊपर पहुंचती है तो ऐसा महसूस होता है जैसे शरीर अशक्त हो रहा है और कुछ कर पाने का उत्साह शिथिल होता जा रहा है। पहले जैसी रौनक नहीं रहती है।

परिवर्तन की इस प्रक्रिया का स्पष्ट आभास तब होता है, जब तरुणाई ढलने लगती है। जो रूप-जो बल पहले था, क्या तब रहता है। वैसे तो मनुष्य प्रतिदिन दर्पण में देखता है और समझता है कि मेरी आकृति वैसी की वैसी है-मेरा शरीर वैसा का वैसा है, लेकिन यह उसका दृष्टि भ्रम ही होता है। एक दिन में परिवर्तन प्रतीत नहीं होता, परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और उसका परिणाम जब घनत्व में प्रकट होता है। तभी उसका स्पष्ट अनुभव होता है। यह शरीर पौद्गलिक होता है और पुद्गल का स्वभाव ही सड़ना, गलना और नष्ट होना कहा गया है। इस दृष्टि से ही मानव जीवन क्षणभंगुर बताया गया है। यह बादल की तरह कोमल होता है। देखते नहीं आप कि बादलों का समूह कितनी जल्दी इकठ्ठा हो जाता है और कितनी जल्दी बिखर भी जाता है ? वैसी ही स्थिति इस शरीर और इस जीवन की भी है। कब यह बिखर जाये-कब अपनी इहलीला समाप्त कर दे-इसका कोई भरोसा नहीं है।

परिवर्तन की इस प्रक्रिया से ही मनुष्य को अपनी आत्मा का बोध होना चाहिये। यह शरीर अपनी आत्मा के साथ संयुक्त होता है और जब तक यह संयोग है तभी तक इस जीवन का भी अस्तित्व है। कर्मों की जड़ के साथ यह शरीर और जीवन पनपता है तथा उसी के साथ इनका विसर्जन हो जाता है, इस जीवन में जिस तरह के नये कर्मों का उपार्जन होता है, उसी प्रकार से उसके अगले जीवन का भी निर्माण हो जाता है।

जब यह मानव जीवन इतना नश्वर और इतना विसर्जनशील है, तब भी इसका इतना अधिक महत्व क्यों प्रतिपादित किया गया है? महत्व की दिशा में जानकारी करें तो ज्ञात होगा कि कोमल तत्व भले ही नश्वर होता है लेकिन वह उतना ही विशेष कार्य का सम्पादन करने में अधिक सहायक होता है। जो महत्वपूर्ण है लेकिन ठोस है-मुड़ नहीं सकता, वह भले ही महत्वपूर्ण हो, लेकिन उसकी महत्ता एकांगी ही रहती है-उससे आगे का नव निर्माण नहीं हो सकता है। यह सामने संभा कीमती हो सकता है लेकिन बिल्कुल ठोस-जरा भी मुड़ नहीं सकता, एक बैत की लकड़ी होती है, उसको प्रयत्न करके चारों तरफ मोड़ सकते हैं। जो महत्वपूर्ण होने के साथ स्वभाव से कोमल होता है तो उसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है।

महत्व किस बात में रहा हुआ होता है- इस को समझ लीजिये। जिस वस्तु का जो स्वरूप है, उस मूल स्वरूप को प्रकट करने में जो भी साधन सहायक बनते हैं। उन साधनों का महत्व इस तथ्य में माना जाएगा कि वे अपने कार्य को सार्थक बनावें। इसके लिये आत्मा और शरीर के स्वरूप पर चिन्तन करना होगा। आत्मा शरीर की संचालक शक्ति होती है याने कि शरीर आत्मा का साधन होता है आत्मा और शरीर के संयोग से जीवन बनता है तथा कैसे शरीर का आत्मा के साथ संयोग होता है-उससे जीवन का महत्व प्रकट होता है। मानव शरीर के साथ आत्मा का संयोग इसलिये दुर्लभ माना गया है कि यह शरीर और जीवन आत्मा को उसका मूल स्वरूप प्राप्त कराने के लिये सशक्त साधन हो सकते हैं। क्षमता इनमें रही हुई है। जिसमें जो क्षमता रही हुई है, वह उस क्षमता को सार्थक बनावें, इसी में उसका महत्व माना जाना चाहिये। इसी दृष्टि से विचार करना है कि इस मानव शरीर और जीवन के महत्व को कैसे प्रकाशित किया जा सकता है?

## देवताओं के शरीर की तुलना में मनुष्य का शरीर

देवों का शरीर दिव्य कहलाता है, लेकिन वह शरीर एक रूप में रहने वाले थंभे के समान होता है। क्योंकि देवता अपने जीवन में लोच नहीं खा सकते हैं। उसको मोड़ नहीं दे सकते हैं और उस शरीर के साथ अपने आपको साधना के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ा सकते हैं। लेकिन मनुष्य का जीवन बादल के समान कोमल होता है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो मक्खन की उपमा दी जा सकती है। सारे पदार्थों में मक्खन अधिक महत्वपूर्ण होता है या नहीं?

एक व्यक्ति दही लेकर बैठता है और एक मक्खन लेकर बैठता है। यों कह लीजिये कि एक के भोजन में मक्खन रख दिया और दूसरे के भोजन में दही और दोनों पास पास में भोजन करने बैठे तो कौन अपने आपको ऊंचा महसूस करेगा? जिसको मक्खन रखा गया, वह अपने आपको ऊंचा समझेगा और जिसको दही परोसा गया है वह समझेगा उसके साथ भेदभाव किया गया है। वह यह नहीं सोचेगा कि दही में मक्खन रहा हुआ है। इसी रूप में देव शरीर कोमल नहीं होने से सारपूर्ण नहीं होता है। जैसे दही में मक्खन होता है, वैसे देव शरीर में मानव शरीर प्राप्त करने की क्षमता होती है लेकिन मक्खन रूप मानव शरीर में ही यह क्षमता होती है कि इस जीवन में ही आके परमात्म स्वरूप का साक्षात् कर लिया जाय। इस देह रूपी मक्खन को पाकर ही आत्मा पूर्णतया पुष्ट हो सकती है और यदि आत्मा को पूर्ण बलवती बना ली जाती है तो फिर देव देवी भी उस पूर्णतया के चरणों में लोटपोट हो जाते हैं। वैसे मनुष्य को देवताओं का भी नमन प्राप्त हो जाता है।

देवताओं के दिव्य शरीर की तुलना में भौतिक दृष्टि से भले ही मनुष्य का शरीर वैसे रूप और लावण्य वाला न हो, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का शरीर देव शरीर से अधिक भव्य होता है। जो शरीर आत्मा को उसके लक्ष्य तक पहुंचाने का सामर्थ्य रखता हो, भला उस शरीर की महत्ता के आगे अन्य कौनसा शरीर जा सकता है? इसीलिये देव भी उस आत्मा को नमन करते हैं: जो आत्मा शरीर रूपी इस मक्खन का पूर्ण सदुपयोग करते हुए अपने स्वरूप को पुष्ट बना लेती है। इस मानव शरीर में रहते हुए भी वह आत्मा वन्दनीय बन जाती है, जो शरीर धर्म साधना में प्रवृत्त बना देती है, स्वयं के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपना कर अपने जीवन को उज्वल बना लेती है। ऐसे आत्म स्वरूप को देखकर ही देवता प्रतिस्पर्धा करने लगते हैं; परीक्षा लेते हैं और उसके चरणों में झुक जाते हैं। देवलोक में रहते हुए भी तब वे कामना करते हैं कि वे मनुष्य जीवन को प्राप्त करें। देव देवयोनि से मोक्ष में नहीं जा सकते हैं। मोक्ष की अभिलाषा मानव जीवन में ही पूरी की जा सकती है।

साधना का क्रम श्रावकत्व से



देवता अपने देव जीवन में भी कामना करते हैं कि वे उस जीवन को समाप्त कर मनुष्य जीवन में और उसमें भी श्रावक कुल में जन्म लें। कैसा होता है श्रावक? कैसा होता है उसका धर्म और स्वरूप-जिसकी कामना देवता भी करते हैं। और आपका जन्म तो श्रावक कुल में ही हुआ है, तो क्या आपने अच्छी तरह से श्रावकत्व के स्वरूप को समझा है? क्या आप अपने आपको सौभाग्यशाली मानते हैं कि आप श्रावक कुल में जन्में हैं? श्रावक कुल में आपको जन्म सहज रूप में मिल गया है लेकिन श्रावकत्व का अनुपालन उतना सहज नहीं होता है। मनुष्य जीवन को पाकर मनुष्यता को प्राप्त करना आगे की बात होती है। उसके लिये अपने को तपाना पड़ता है। उसी रूप में मनुष्य जीवन में साधना का क्रम श्रावकत्व से शुरू होता है।

देवी देवता इतना तक सोचते हैं कि कदाचित् इतनी पुण्यवानी का संचय नहीं कर सकें कि श्रावक कुल में जन्म हो और कम पुण्यवानी हो तो श्रावक कुल में ही अनुचर ही बन जावें। वे श्रावक कुल को इतना उच्च समझते हैं कि उसमें अनुचर बन करके भी अपने जीवन को सार्थक मानते हैं, क्यों कि सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने के बाद श्रावकत्व से ही मोक्ष की साधना का क्रम प्रारंभ होता है तथा एक श्रावक अपने कुल में रहने वाले अनुचरों को भी आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है।

ऐसी कौनसी विशिष्टता है श्रावक में? यह विशिष्टता धर्म साधना के कारण बनती है। तीर्थकरों की वाणी को श्रावक अपने जीवन में उतारता है और अपने जीवन को उनके आदर्श की तरफ बढ़ाता है-इसी कारण उसके पद को इतना ऊंचा पद माना गया है जिसको पाने की देवी-देवता भी कामना करते हैं। केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तीर्थकरों ने चार तीर्थों की स्थापना की और उसको धर्मसंघ माना। ये चार तीर्थ हैं- साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका। श्रावक और श्राविकाओं को भी तीर्थ की संज्ञा दी गई है क्योंकि श्रावकत्व ही विकसित होकर साधुत्व में परिवर्तित होता है। श्रावकत्व एक प्रकार से साधुत्व का धरातल होता है। अपने समग्र जीवन को साधना में समर्पित करने वाले साधु और साध्वी तो तीर्थ रूप हैं ही, लेकिन श्रावक व श्राविकाओं को भी तीर्थ का पद इसलिये दिया गया है कि वे गृहस्थ रहते हुए भी त्याग मार्ग की ओर गतिशील रहते हैं तथा समग्र त्यागियों के त्याग को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उनको संरक्षण भी देते हैं।

जानते हैं आप कि तीर्थ किसको कहते हैं? यह तीर्थ शब्द पवित्रता का सांकेतिक शब्द है। तीर्थ का अर्थ यह है कि जिसके समीप में जाने वाला तिर जाय याने कि तीर्थ के समागम से जीवन आदर्श और पवित्र बन जाय। जिसके समीप में जाने से आत्मा को शीतलता का अनुभव हो-शान्ति की उपलब्धि हो, वही सच्चा तीर्थ कहलाता है।

जहां द्रव्य तीर्थ का प्रसंग है, सरिता तट के समीप यदि कोई पुरुष जाता है पाप से तप्त बना हुआ जाता है तो गंगा की ठंडी लहरों से उसको शीतलता का अनुभव होता है जब गंगा के जल से आचमन करता है तो उसकी प्यास भी शान्त हो जाती है और आगे बढ़ता है तो स्नान के द्वारा अपने शरीर के मैल को भी धो सकता है। लेकिन जहां अन्तरात्मा के मैल को धोने का कार्य है, उसके लिये द्रव्य तीर्थ काम नहीं आते हैं। इस कार्य के लिये चैतन्य तीर्थ के पास जाना पड़ेगा। भीतरी ताप को मिटाने के निमित्त से वही समुन्नता आत्मा तीर्थ का काम देती है जो जागृतिपूर्वक श्रावकत्व अथवा साधुत्व को साधना कर रही हो। जो चैतन्य तीर्थ के पास पहुंचकर अपने अन्दर के जीवन को धो लेता है, वही अपने आत्मस्वरूप को देदीप्यमान बना सकता है।

## श्री कृष्ण की तूंबी

महाभारत का भयंकर युद्ध जब निपट चुका तो पांडव व उनके साथियों ने सोचा कि युद्ध के प्रसंग से काफी नर-संहार हुआ है सो इस सारे पाप को तो तीर्थों में स्नान करके धो डालना चाहिये ताकि यह जीवन अपवित्र न रहे। वे सब मिलकर श्री कृष्ण के पास गये और उनको भी साथ में चलने का निमंत्रण दिया श्रीकृष्ण ने कहा-मुझे तो राज-काज से फुरसत नहीं है-आप मेरी ओर से यह एक तूंबी ले जाइये और इसको सभी तीर्थ करा लाइयेगा। उन्होंने तूंबी को अपने साथ ले ली और वे तीर्थ यात्रा के लिये रवाना हो गये। सब तीर्थ करके वे वापिस लौटे। हर तीर्थ पर जहां उन्होंने स्नान किया, उन्होंने श्री कृष्ण की तूंबी को भी स्नान कराया। लौटकर वे श्री कृष्ण के पास गये और उनको उनकी तूंबी लौटाई। तूंबी लेकर श्री कृष्ण ने पूछा-क्या मेरी तूंबी भी आपकी तरह पवित्र हो गई है? उन्होंने उत्तर दिया-क्यों नहीं? इसको भी विधिवत् सभी तीर्थ करा दिये हैं। श्री कृष्ण ने तूंबी को अपने अनुचर के साथ भीतर भेजकर उनके सत्कार में प्रसाद लाने को कहा। थोड़ी देर में अनुचर चूर्ण ले आया-सबको दिया गया और सभी ने मुंह में डाला तो उस कड़ुए-जहर चूर्ण से सभी के मुंह बिगड़ गये।

तब श्री कृष्ण ने पूछा-क्या बात है? क्या आप कुछ बुरा अनुभव कर रहे हैं? एक ने झिझकते हुए जवाब दिया-यह तो एकदम कड़ुआ है? उन्होंने कहा-क्या बात करते हो? चूर्ण कड़ुआ कैसे हो सकता है? यह तो उसी तूंबी का चूर्ण है-क्या आपने सभी

तीर्थों पर उसको स्नान ठीक तरह से नहीं कराया था? पवित्रता आने पर तो मधुरता आ जाती है? सबके मुंह फूट हो गये, तब श्री कृष्ण ने समझाया-तीर्थ वही कहलाता है, जहां भीतर का मैल साफ होता है। इतने सारे तीर्थ करा देने पर भी अगर एक तूंबी के भीतरी भाग की कड़वाहट नहीं गई तो आप लोगों के मन निर्विकारी और शुद्ध कैसे हुए होंगे ? उन्होंने उपदेश दिया-

**आत्मा नदी संयमतोय पूर्ण, सत्यावहाशील तटादयोर्मि : ।**

**तत्राभिषेकं कुरु पांडु पुत्राः, न वारिणा शुद्धमतिचानरात्मा ॥**

सिर्फ बाहर से ही अपने को धो लें, उसका जीवन पर कोई असर नहीं पड़ता है। धोने की जो बात है, वह अन्तरात्मा के मैल को धोने की बात है। अब जो तीर्थों में घूम आया-नहा आया और उसने समझ लिया कि वह पवित्र बन गया तो क्या वह भ्रान्ति में रहेगा या नहीं? श्री कृष्ण की तूंबी का तनिक भी तो कड़ु आपन दूर नहीं हुआ। एक जड़ पदार्थ भी सारे तीर्थों के प्रभाव से नहीं बदल सका तो यह आत्मतत्त्व क्या तीर्थों के जल से बदल जाएगा? क्या उसका सारा मैल वहाँ धुल जाएगा। ऐसा नहीं होता है। अन्दर की शुद्धि तो अन्दर की प्रक्रिया से ही होगी तथा अन्दर के तीर्थों पर ही वैसा वातावरण मिलेगा। तीर्थकरों ने जो चार तीर्थ बताये हैं और अपनी आन्तरिक शुद्धि के आधार पर सब को आत्म शुद्धि की प्रेरणा देते हैं।

आत्म शुद्धि अन्तर्स्नान से होगी और वह भी तब होगी जब अन्तःकरण को शुद्ध धार्मिक क्रियाओं के पवित्र जल में धोयेंगे। तब अन्तःकरण उज्वल बनेगा और उज्वल बनेगा तभी आप तीर्थ के पद को गौरवान्वित बना सकेंगे। आप श्रावक हैं और इसलिये तीर्थ है; जिसका अभिप्राय यह है कि आपके जीवन से दूसरों को शीतलता और शान्ति मिले। लेकिन पहले यह तो देख लीजिये कि आप स्वयं ही ताप तप्त तो नहीं हैं? दूसरों को शीतलता व शान्ति के अभिलाषी हैं या नहीं है। दूसरों को शीतलता तभी दे पायेंगे जब आप स्वयं परम शीतल होंगे। आप अपने तापों को समझिये, स्वयं शीतल बनकर अन्यो को शीतलता दीजिये तथा श्रावक के तीर्थ रूपी पद की गरिमा को बढ़ाइये।

धर्म में सदा मन रहे

तो देवता भी मनुष्य को नमन करें

कठिन संकल्प, अटूट निष्ठा तथा वास्तविक पुरुषार्थ बनता है, तभी अन्तःकरण को धो लेने का कार्य पूरा हो सकता है। गन्दगी से मन हटे और फिर कभी गंदगी में नहीं जावे तो वैसे अन्तःकरण को एक बार धो लेने पर फिर उसकी पवित्रता बनी रह सकती है। ऐसे अन्तःकरण से जब धर्म की साधना की जाती है तो वैसी साधना सच्ची बनती है। यह साधना जब पुष्ट रूप लेती है तो फिर सदा सर्वदा धर्म में मन रम जाता है और उसका जीवन पवित्रता से ओतप्रोत बन जाता है। ऐसी पवित्र आत्मा के लिये ही भगवान् महावीर ने कहा है-

**देवा वि तं नर्मसंति,**

**जस्स धम्मे समा मणो ।**

अर्थात्- उसको देवता भी नमस्कार करते हैं, जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है।

मनुष्य धर्म के साथ ही देवों के लिये वन्दनीय बनता है। धर्म साधना के कारण ही मनुष्य को देवता भी नमन करते हैं। इसीलिये देवों की कामना श्रावक कुल में तथा श्रावक कुल के अनुचर के रूप में भी जन्म लेने की होती है। वे सोचते हैं कि तीर्थ के सेवक रूप रहने में भी उनकी आत्मा का उद्धार हो जायेगा। आप हैं, आपके यहां नौकर भी होंगे, क्या उन नौकरों को भी कभी आपने बोध दिया है। उनको धार्मिकता सिखाने की कभी कोशिश की है? क्या आपने उनको आत्मिक शान्ति का विज्ञान दिया है? कई भाई सोचते होंगे कि बेचारे नौकर क्या धर्म को समझेंगे। धर्म को तो हम समझते हैं। आप धर्म को समझें और धर्म के अनुसार अपने जीवन को बनावें तो इससे बढ़कर क्या शुभ बात हो सकती है। लेकिन अपने इस अन्तरपैट में झांककर भली प्रकार देख जरूर लें कि आपकी धर्म की समझ का कितना ओर कैसा व्यावहारिक रूप है? शायद है आप अपने नौकर को कुछ-कुछ धार्मिक बोध दें तो वह जल्दी जागृत बन जाये। आपकी जागृति का तो आप ही ने विचित्र हाल बना दिया है।

नौकर को परिवार में समानता का व्यवहार देना, उसके साथ भोजन आदि में किसी तरह का भेद भाव नहीं रखना तथा उसमें यत्न करके धार्मिक भावना जगाना-यह वही श्रावक कर सकता है जिसका मन सदा सर्वदा धर्म में लगा रहता है। आप नौकर को

तिरस्कृत नहीं करते हुए उसके साथ स्नेह से भाई शब्द का व्यवहार करेंगे तब उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाएगा । उसको जितना अपनत्व दिया जाएगा, उससे कई गुना अधिक अपनत्व देने के लिये वह तत्पर रहेगा । गृहस्थाश्रम में रहते हुए यह भी धर्म साधना का एक अंग है, क्यों कि परिवार में हर छोटे बड़े के साथ स्नेहपूर्ण समान व्यवहार करना सीखेंगे तो सारे समाज के सदस्यों तथा राष्ट्र के नागरिकों एवं धीरे-धीरे सभी प्राणियों के साथ आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करने के अभ्यस्त बन जायेंगे ।

आपका तीर्थपद तभी गौरव पा सकेगा, जब आप अपना ऐसा व्यवहार बना लें कि जो भी आपके समीप में आपके सम्पर्क में आवे, वह अपने आप को मिटा सके तथा आपसे शीतलता पा सके-ऐसा दृश्य बनना चाहिये । तीर्थ का यह गौरव तभी पैदा हो सकेगा, जब आपका मन धर्म के उज्ज्वल रंग में गहरा-गहरा डूब जाएगा । आत्मा की ऐसी ही अवस्था जब उच्चतर कोटि की बनती है, तब बिना बुलाए देव आते हैं और उस मनुष्य को नमन करते हैं ।

## शरीर पोषण या आत्मा पोषण

यह मानव शरीर मक्खन के समान है-कोमल और सारपूर्ण, लेकिन कब? जब इस शरीर को आत्म धर्म का साधन बनाया जाये । लेकिन इसके विपरीत अगर शरीर आत्मा के अनुशासन में नहीं रहता और स्वच्छंद हो जाता है तो वह अपने साथ आत्मा को विपथगामिनी बना देता है । इसलिये मनुष्य यदि सिर्फ शरीर पोषण के चक्कर में पड़ जाता है तो वह चेतन से दूर हटकर जड़त्व की ओर आगे बढ़ता है और इसलिये गिरता है । वह इस मक्खन को विकारों के गटर में फँक देता है ।

दूसरी ओर यदि मनुष्य अपनी आन्तरिकता को धोता है तथा अपनी आत्मा की प्रतीति कर लेता है तो वह आत्म पोषण को प्रमुखता देता है और शरीर रूपी इस मक्खन का पूर्ण सदुपयोग करता है । वह इस शरीर को आत्मा की सेवा में लगा देता है और शरीर को चन्दन बना देता है । आत्म पोषण से मनुष्य ऊपर उठता है तथा उसका जीवन आदर्श अनुकरणीय एवं वन्दनीय बनता है ।

मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि इन्सान के चोले में रहते हुए मनुष्य जीवन को सार्थक बनालें । यह जीवन तो मक्खन की तरह जल्दी जाने वाला है । इसको यदि आत्म पोषण में लगा देंगे तो निहाल हो जायेंगे । जैसे बड़े लोगों की दृष्टि जिसकी तरफ हो जाती है तो वह मालामाल हो जाता है, वैसे ही इस जीवन की तरफ जागृत आत्मा की दृष्टि मुड़ जाये तो यह जीवन भी निहाल हो जाता है आत्म धर्म के स्वरूप को समझने में पीछे नहीं रहें । भगवान् महावीर ने उद्घोषणा की है कि-

*सुते सुया वि पडिबद्ध जीवी,  
नवीससे पंडिय आसु पन्ने ।  
धीरा मुहुत्ता अबलं शरीरं,  
भारंड पक्खी व चरेपमतो ॥*

शास्त्रकारों ने मनुष्य शरीर को सर्वश्रेष्ठ शरीर बताया है, लेकिन इसके प्रति पूरी तरह सावधानी रखने का भी संकेत दिया है यह संकेत अन्तःकरण पूर्वक सब समझें । इस मानव जीवन में आत्मा का पोषण इस रूप में करें कि शरीर उसका श्रेष्ठ सहयोगी हो तथा आत्म-बल में निरन्तर अभिवृद्धि होती जावे । आत्मा की शक्ति ही सर्वोपरि शक्ति होती है तथा जो आत्म शक्ति होती है तथा जो इस आत्म शक्ति को सुदृढ़ बना लेता है, वह फिर अजेय हो जाता है-संसार के सारे विकार भी उसके आदर्श को परास्त नहीं कर सकते हैं ।

## देवता का नमन मनुष्य की योग्यता

गुणपूजक संस्कृति सदा ही गुणों को प्रधानता से देखती है और उसका उद्देश्य साफ होता है कि मनुष्य अन्य-अन्य प्रकार के बल बढ़ाने और उनका प्रदर्शन करने से बाज आवे तथा गुणों के आदर्श को अनुकरणीय समझें । ये गुण क्या होते हैं? इन्हें आत्म स्वरूप के प्रतीक समझ सकते हैं । आत्मा यदि सांसारिक विकारों में रची पची है तो उस अवस्था में जीवन में उस आत्मा के जो प्रतीक नजर आयेंगे, वे भी विकारी होंगे अतः वे गुण दुर्गुण कहलायेंगे । उसी तरह जिस व्यक्ति का जीवन आध्यात्मिकता की ओर मुड़ चुका है उसकी आत्मा विकारों को छोड़ती है-अपने ऊपर आये हुए आवरणों को हटाती है । इससे उसका मूल स्वरूप प्रकाशित

होता है। तब उसकी जो किरणों से बाहर फूटेगी, वे सद्गुणों के रूप में होगी। उन सद्गुणों से ही उस आत्मा की समुन्नत अवस्था का परिचय मिलता है। इसलिये गुण आत्मदशा के परिचायक होते हैं।

देवता मनुष्य को नमन तो करें और अवश्य करेंगे, लेकिन क्या वे वर्तमान विकारपूर्ण मनुष्य को नमन करेंगे ? ऐसा नहीं होगा। मनुष्य अपने झरीर का सदुपयोग करें, जीवन को समुन्नति की ओर ले जावें तथा आत्मा को ऐसी गुणशील बना दे कि संसार उसके सामने झुक जाये केवल देवता ही क्या होते हैं।

दि. 2.9. 77

## जीवन्त जिज्ञासा: आत्म-शक्ति की शोध

*आत्मा को जब यह अनुभव हो जाता है कि मेरा जीवन अभी अपूर्ण है। जीवन में सुख शान्ति का आनन्द नहीं उठा सका हूँ। सुख का जो आभास होता है, वह प्रकृति जन्य स्थायी नहीं है। इसलिए दुख और चिन्ताएं घेर लेती है।*

*मनुष्य अपने अन्दर एक रिक्तता का अनुभव करता है वह यह इच्छा करता है कि उसकी रिक्तता भर जाय। तब वह आत्म शक्ति की शोध में निकल पड़ता है।*

*उपदेश देने वाले वक्ताओं की कमी नहीं है। फिर भी जीवन में तसि नहीं होती है। हर रोज उपदेश सुनते हैं मगर उनका असर नहीं होता है। तीर्थकरों के उपदेशों से भी वे संतुष्ट नहीं होते। यह दोष तीर्थकरों का नहीं। जो ग्रहण करने की योग्यता नहीं रखता उसकी अयोग्यता ही उसकी असन्तुष्टों का कारण है। उपदेशक अच्छी बात कहता है मगर सुनने वाला उपदेश ग्रहण करने भी योग्यता नहीं रखता तो उसका जीवन संतुष्ट कैसे होगा? इधर-उधर की बातें सुनकर-उसके आधार पर उपदेश देगा तो बुद्धि और मस्तिष्क तक ही सीमित रहेगा, हृदय को नहीं छुएगा। अभी की कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता, चाहे वह कितना ही यत्न करें।*

*लोगों को इस भावना से कोई उपदेश दे कि मेरे उपदेश से श्रोताओं पर प्रभाव पड़ेगा और मुझे भेंट देंगे। ऐसे विचार से ही व्यक्ति अपनी आत्मशक्ति नष्ट कर रहा है, और जन समूह का विश्वास खो रहा है। उपदेश चाहे पैसों के लिए हो, चाहे प्रसिद्धि पाने के लिए हो विकार आये बिना नहीं रहेगा। निस्वार्थ भाव से दिया गया, उपदेश से कर्मों की निर्जरा होती है। बुद्धि बल, आत्मबल, और आत्मशक्ति से ही हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं।*

**श्री सुपाशर्व जिन वंदिए.....**

जिज्ञासु आत्मा अपनी जिज्ञासा पूर्ति के लिये किसी विशिष्ट पुरुष की शरण ग्रहण करती है। जिज्ञासा उसी आत्मा की आन्तरिकता में पैदा होती है, जिस आत्मा को यह अनुभव हो कि मेरा जीवन अभी अपूर्ण है तथा मैं अपने जीवन में विशेष सुख शान्ति का अभी तक रसास्वादन नहीं कर पाई हूँ। जो कुछ भी सुख का आभास कभी मिलता है, वह स्थायी प्रकृति का नहीं है और जो सुख स्थायी प्रकृति का नहीं होता है, वह अस्थायी रूप से तत्क्षण अनुभव में आता है लेकिन तत्क्षण मिट भी जाता है तथा फिर से दुःख घेर लेते हैं।

तब मनुष्य को अपने जीवन में एक प्रकार से खालीपन या रिक्तता भी महसूसगिरी होती है और उसका अनुभव करते हुए वह आकांक्षा करता है कि उसकी रिक्तता भर जाये। उस रिक्तता को भरने के लिये वह उपयुक्त साधनों को ढूँढता है ताकि उसके जीवन

की अपूर्णता मिट सके तथा अन्तःकरण में पूर्णता की पवित्र भावना झलके। वह सोचता है कि इस रूप में उसकी जिज्ञासा की परिपूर्ण तृप्ति हो सके-ऐसा कौनसा स्थल हो सकता है? जब उसकी जिज्ञासा जीवन्त बनती है तो वह आत्मशक्ति की शोध में धैर्य और साहस के साथ निकल पड़ता है।

## जिज्ञासा की वास्तविकता

उपदेश की स्थिति से उपदेश बहुत सारे स्थलों से मिल सकता है- वक्ताओं की कमी नहीं है। नैतिकता का, धार्मिकता का उपदेश देने वाले भी बहुतेरे मिल सकते हैं। इतना सब सुनते हुए भी इस जीवन में तृप्ति का अनुभव क्यों नहीं होता है? क्यों नहीं व्यक्ति अपने आप को समझ पाता है कि उसके लिये तृप्ति का विषय कहाँ प्राप्त हो सकेगा? इसमें दो कारण हो सकते हैं-एक तो स्वयं की योग्यता तथा दूसरे कथन करने वाले की योग्यता।

वास्तव में यदि स्वयं की जिज्ञासा नहीं है, दिखावटी तौर पर ही कोई जिज्ञासा बना है, तो वैसा व्यक्ति कितना ही कुछ सुनेगा लेकिन वह पत्थर पर पानी डालने जैसा ही रहेगा। ऐसे ऐसे लोग भी इस स्वभाव के मिल सकते हैं जिन्हें आप रोज उपदेश सुनते हुए देखते हैं, लेकिन जिनका दिल चिकने घड़े जैसा बना हुआ है, जिस पर प्रतिबोध की एक बूंद भी ठहरती नहीं है क्यों कि वे व्याख्यान वगैरह रीति रिवाज और अच्छा नहीं लगने की दृष्टि मात्र से सुनते हैं। ऐसे लोगों को पवित्र से पवित्र स्थान मिल जाय तथा पवित्र से पवित्र उपदेश सुनने को मिल जाय, तब भी न तो उनके मन में जिज्ञासा जागती है और न उसकी पूर्ति होने का प्रश्न ही पैदा होता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ देव भी उसके सामने आकर अच्छा से अच्छा उपदेश दे दें तब भी वे अन्तःकरण से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। वह दोष सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् का नहीं होता-कथन करने वाले महाशय का नहीं होता, वह दोष होता है ग्रहण करने वाले पात्र का, जिसमें ग्रहण करने की योग्यता ही नहीं होती है। यह समझना चाहिये कि उसकी अयोग्यता ही उसको असन्तुष्ट रख रही है।

सूर्य से सारा जगत् प्रकाश लेता है, सभी लोग प्रकाश ग्रहण करते हैं लेकिन ऐसे भी जन्तु होते हैं जो सूर्य से प्रकाश का लाभ नहीं उठा पाते हैं। सूर्य उसको प्रकाश देता नहीं है यह तो नहीं कह सकते हैं, क्यों कि सूर्य तो समभाव से प्रकाश दे रहा है, लेकिन ग्रहण करने वाले के नेत्रों में ही ऐसा कुछ दोष समाया हुआ है कि जिसके कारण वह सूर्य के प्रकाश को देख भी नहीं पाता है। सूर्य की किरणों के आते ही उलूक पक्षी की आंखें दृष्टिहीन बन जाती हैं। ऐसा ही दृष्टिकोण किन्हीं व्यक्तियों का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वाणी तथा वीतराग वाणी तक के प्रति बन सकते हैं। वहां पर वस्तुतः जिज्ञासा का ही अभाव होता है तथा जिज्ञासा की वास्तविकता को समझने की भी कोई जिज्ञासा नहीं होती है।

## जीवन्त जिज्ञासा वाले श्रोता पर ही उपदेश का प्रभाव

कभी कभी प्रश्न खड़ा होता है कि इतना उपदेश जैनों को मिलता है या दूसरों को मिलता है, फिर भी उन पर उपदेश का प्रभाव क्यों नहीं दिखाई देता है? इसमें भी यही वस्तु विषय है कि उपदेश देने वाला कैसा है और उपदेश को श्रवण करने वाला कैसा है? उपदेश दाता यदि अच्छा भी है, लेकिन श्रवण करने वाला उसके मुकाबले का नहीं है तो वह उस उपदेश को ग्रहण नहीं कर पाता है।

सर्वथा श्रोताओं का अभाव है अथवा सही जिज्ञासा वाले ही नहीं ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। जीवन में बहुतेरा परिवर्तन व्यक्ति अनुभव करता है तो वह उपदेश के प्रभाव से भी काफी अंशों में होता है। जीवन्त जिज्ञासा वाले श्रोता के हृदय पर उपदेश का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है। इसके लिये श्रोता रूप योग्य पात्र की आवश्यकता होती है। पात्र की योग्यता यह कि उसमें उपदेश ग्रहण करने की क्षमता हो तथा दूसरे वह जिज्ञासापूर्ण हो तथा स्वच्छ हो। जीवन में कुछ भी अच्छा तत्व ग्रहण करने के लिए हृदय की निर्मलता आवश्यक मानी गई है। उसके साथ ही जिज्ञासा भी योग्य तरीके की हो तथा उसकी पूर्ति करने की अन्दर की तत्परता भी हो। जब पानी की उग्र प्यास लगती है तो सब तरह से पानी की खोज करके उस जीवन-दायक जल को ग्रहण किया जाता है। चातक पक्षी के बारे में लोकोक्ति है कि वह जमीन पर गिरा हुआ पानी ग्रहण नहीं करता है केवल स्वाति नक्षत्र में आकाश से सीधी गिरती हुई बूंदों को ही ग्रहण करता है, अन्यथा वह प्यासा ही रहता है। वैसे ही चातक पक्षी के समान एक जीवन्त जिज्ञासा वाला

श्रोता भी उपदेश ग्रहण करता है किन्तु योग्य स्थल से ही उपदेश ग्रहण करता है और तब उस उपदेश से अपने जीवन को प्रभावित भी बनाता है।

उपदेशक कैसे हों-

सेठ की तरह या मुनीम की तरह

दूसरा प्रश्न ले लें उपदेशक का-वक्त का । वक्त कैसा होता है? बोलने वाले महाशय जो कुछ भी वक्तव्य दे रहे हैं, वह उस रूप में मुनीम का कार्य कर रहे हैं अथवा सेठ की तरह होकर वक्तव्य दे रहे हैं? दोनों प्रकारों में एक अन्तर आता है । एक तो अन्तःकरणपूर्वक इस इच्छा से उपदेश दिया जाता है कि मैं खूद देने के लिए तैयार हूँ और वह स्वयं दान करता है। दूसरे, सेठ की अनुपस्थिति में सेठ का मुनीम या नौकर दान देता है तो दान देने में कुछ अन्तर आयेगा या नहीं ? मुनीम किस भावना से दान देता है? वह सोचता है कि यह सेठ का पैसा है और मैं दे रहा हूँ । उस देने में उसका खुद का रस लेना जरूरी नहीं है क्यों कि चीज उसकी अपनी नहीं है। उस का काम अपना कर्तव्य बजाने की दृष्टि से होता है।

वैसे ही उपदेश देने वाला स्वयं सेठ बनकर उपदेश दे रहा है या मुनीम बनकर उपदेश दे रहा है-यह देखने की बात होती है। यदि मुनीम बनकर उपदेश दिया गया ता उसमें अन्तर जरूर पड़ेगा। मुनीम तिजोरी में से उठा उठा कर इधर दान देता है लेकिन तिजोरी में खूट गया तो फिर कहां से देगा ? उसकी खुद की पूंजी तो है नहीं। वैसे ही जो वक्ता मुनीम बनकर उपदेश दे रहा है तो वह क्या करेगा ? इधर उधर की पुस्तकों में से कुछ बातें इकट्ठी कर लेगा, कुछ कला सीखेगा और कुछ कलाबाजी से उपदेश देकर वह भले ही श्रोताओं को प्रभावित भी कर लेता है, लेकिन वह प्रभाव मस्तिष्क और बुद्धि तक ही सीमित रहेगा, हृदय को नहीं छू सकेगा। अच्छा उपदेश दिया लेकिन उसका अन्तःकरण में प्रवेश नहीं होता है। वह भी उपदेश कदाचित् मिलता है तो कई भाई उसको ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। शास्त्रों में वर्णन आया है कि अभवी आत्मा को कभी मोक्ष नहीं होता। वह चाहे कितनी ही करणी करले, कितनी ही धर्म ध्यान की आराधना करले लेकिन वह हृदय से भीजती नहीं है। भगवान् महावीर और अन्य तीर्थकरों के वचन भी उसके अन्तःकरण में प्रवेश नहीं करते हैं। वचन एवं व्यवहार को लेकर कभी ऐसा भी दिखाई देता है कि वह शुद्ध बन गया है, लेकिन वस्तुतः वह साधारण करणी भी नहीं करता है, उसका मिथ्यात्व हटता नहीं है। वह पहले गुणस्थान तक भी नहीं पहुंच पाता है।

आप सोचेंगे कि वह अभवी जीव गौतम स्वामी जैसी करणी को अपना रहा है, तब भी उसका मिथ्यात्व क्यों नहीं हटता है? उधर यह सोचते हैं कि भगवान् के वचनों पर श्रद्धा रखने वाला सम्यक दृष्टि होता है। चौथे गुण स्थान तक पहुंच जाता है और उससे भी आगे छठे गुणस्थान तक पहुंच जाता है, फिर भी उसका वह मिथ्यात्व क्यों नहीं हटता ? मिथ्यात्व नहीं हटने का कारण उसके स्वयं के जीवन की स्थिति में रहा हुआ होता है। वह साधना के क्षेत्र में भी बहुत कुछ करता है, लेकिन उसकी यह जिज्ञासा नहीं बनती है कि वह अपनी आत्मा का सम्पूर्ण विकास करके परमानन्द को प्राप्त करें। वह तो संसार के अच्छे से अच्छे फलों की कामना करता है। उसके मन में स्वयं के भौतिक सुखों का स्वार्थ भरा रहता है। कोई पूछे कि अभवी ऐसा क्यों होता है तो यही कहना पड़ेगा कि उसका ऐसा ही स्वभाव है। जैसे दाल में घोरड़ रह जाता है-सीजता नहीं है, वैसा ही स्वभाव अभवी का होता है। ऐसा अभवी भी उपदेश देता है और भगवान की वाणी का भी उपदेश देता है लेकिन तब भी उसके मन में यही होता है कि वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही उपदेश दे रहा है। इस रूप में उपदेश देने वाला अपना कोई विकास नहीं कर सकता है। मुनीम के तरीके से उपदेश देने वाले ऐसे भी होते हैं और दूसरे तरीके के भी होते हैं। वैसे ही सोचते हैं कि मुझे इस मार्ग का उपदेश देने में बहुत लाभ है-लोग मेरी बात सुनेंगे सत्कार करेंगे-यशकीर्ति देंगे और दुनिया में मेरी जाहो जलाली होगी। इस भावना को लेकर भी मुनीम की तरह एक उपदेशक उपदेश देता है।

उपदेशक की भावनाओं का

उपदेशों में असर

कई उपदेशक इस भावना से उपदेश देते हैं कि इन लोगों को अच्छा उपदेश सुनाऊंगा तो ये लोग मुझे कुछ न कुछ भेंट देंगे। इन लोगों के मन के अनुकूल उपदेश सुनाऊंगा तो अधिक से अधिक धन देंगे। मुझे अमुक विषय में चन्दा करना है तो जनता को ऐसा उपदेश देना है कि वह अधिक से अधिक चन्दा दे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न भावना के साथ भी उपदेशक अपना उपदेश देते हैं।

जैसी जैसी उनके मन में वासनाएं होती हैं, उन उन वासनाओं की पूर्ति की आशा में वे उपदेश देने की कोशिश करते हैं। तो वह सारा उधार होता है, निज की थाती नहीं होती। इस ढंग से तो श्रोता भी कुछ लेते हैं, कुछ छोड़ देते हैं। कुछ भव्य उपदेश को ग्रहण भी करते हैं। लेकिन जो उपदेश देता है, उसकी योग्यता में फर्क है। वह उपदेशक जो भी कुछ कहता है, उस स्थिति में सत्य हो सकता है लेकिन उसके कथन में स्वार्थ का पुट होता है। वह स्वार्थ चाहे पैसों के रूप में न हो, ख्याति पाने के रूप में भी हो सकता है। इसलिये उसके कथन में विकार आये बिना नहीं रहता है।

आप जिस टैंक से पानी ले रहे हैं, उस टैंक में अगर किसी रंग की पुड़िया घुली हुई है। भले ही वह स्वल्प मात्रा में हो, तब भी उस पानी में उसका रंग जरूर आयेगा। रंग का कुछ न कुछ अंश आये बिना नहीं रहेगा। वैसे ही हृदय रूपी टैंक में व्यक्ति कहीं से भी पानी भरे-शास्त्रों की विधि से भी भरे, लेकिन हृदय में जो कुछ भी भावना होती है उस भावना का रंग उपदेश में आये बिना नहीं रहेगा। यह अपूर्ण व्यक्ति की बात है।

लेकिन जिन आत्माओं ने अपने हृदय के विकारों को सम्पूर्ण रूप से धो दिया है, अन्तःकरण में किसी के प्रति कोई कटुता नहीं रह गई है और जो पवित्र विचारों में रमण करती हैं, उनके अन्दर में न धन की लालसा रही है और न यश, कीर्ति, पद अथवा प्रतिष्ठा की कामना बची है। ऐसे जो उपदेशक होते हैं, वे जन समुदाय पर अपना किसी रूप में भार नहीं डालते हैं तथा घर-घर से स्वल्प आहार ग्रहण करते हुए शरीर की स्थिति से केवल निर्वहन की भावना लेकर चलते हैं। वे समाज से अत्यल्प लेते हैं और समाज को महत्तम देते हैं। दुनियां उनके उपदेशों को विश्वस्त दृष्टि से देखती है तथा लाभान्वित होती है। वे अपने अर्जित ज्ञान को अधिकतम उदारता के साथ वितरित करते हैं। कई ऐसे उपदेशक होते हैं जिनका स्वयं का सारा उपार्जित ज्ञान होता है तो ऐसी भव्य आत्माओं के उन्नतिशील उपदेशों पर भला किसको श्रद्धा नहीं होगी? उपदेशक की भावनाओं का ही उसके उपदेशों में सार होता है और जब उपदेशक इस प्रकार की अति समुन्नत आत्मा हो तो उनके उपदेशों का अवश्य ही श्रोताओं पर बड़ा गहरा एवं प्रेरणादाई असर पड़ता है।

## शक्ति सम्पन्न से ही आत्म शक्ति का मार्ग मिलता है

आप लोग किस पर विश्वास रख कर चल रहे हैं? आप कहेंगे कि हम महावीर भगवान् की वाणी पर विश्वास करते हैं। क्यों भला? क्या महावीर स्वामी आपके कुछ लगते हैं! आपके वे दादा थे, परिवार के थे या अन्य सम्बन्धी थे-यह तो आप नहीं कह सकते क्यों कि आप तो अलग-अलग जातियों के अन्तर्गत हैं। कोई ओसवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि। भगवान् महावीर शरीर और कर्म की दृष्टि से क्षत्रिय थे फिर आपने उनकी बातों और आज्ञाओं को क्यों अंगीकार की?

इसलिये कि महावीर प्रभु ने अपनी आत्मशक्ति की सफल शोध की, स्वयं शक्ति सम्पन्न बने तथा शक्ति सम्पन्न बनकर उन्होंने संसार के समस्त प्राणियों को शक्ति सम्पन्न बनने का मार्ग भी बताया। उन्होंने सांसारिक पदार्थों तथा विकारों का परित्याग किया, जंगल में पहुंच कर वे घोरतम तपाचरण में लगे तथा परमात्म स्वरूप के धारक बन गये। तब वे क्षत्रिय कुल या मानव जाति के ही नहीं रहे बल्कि सारे जगत् के हो गये। केवल ज्ञान प्राप्त करके जगत् हित की कामना से ही उन्होंने चार तीर्थों की स्थापना करके उपदेश दिया। उस उपदेश दान में उनका अपना कभी कोई प्रयोजन नहीं था कि उस कारण वे उपदेश देते। विशुद्ध लोक कल्याण की भावना ही उसके पीछे थी शक्ति सम्पन्न विभूतिके हाथों ही लोक कल्याण सधता है और उन्हीं की दिव्य वाणी से आत्मशक्ति का मार्ग मिलता है।

ऐसे परम ज्ञानी उपदेशक सर्वोत्कृष्ट उपदेशक होते हैं। फिर छद्मस्थ साधक भी इसी दृष्टि से उपदेश देते हैं कि उनके कर्मों के आवरण हटें, आत्मशुद्धि बढ़े तथा लोगो में भी आत्मसाधना के प्रति अभिरुचि जगावें। शास्त्रकारों ने बताया है कि यदि वक्ता निःस्वार्थ भाव से और विधि पूर्वक उपदेश देता है तो उसके कर्मों की निर्जरा होती है। वह आत्मशुद्धि और आत्मशक्ति के मार्ग पर अग्रसर बनता है। श्रोता भी इसी भावना से उपदेश ग्रहण करते हैं तो उनकी भी निर्जरा और आत्मशुद्धि होती है। भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा उनको अपने लिये उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं थी, लेकिन सारे जगत् के प्राणियों पर करुणा भाव लाकर अत्यन्त आत्मीय भावना के साथ उन्होंने उपदेश दिये। प्रश्नव्याकरण में सूत्र आया है-

**सत्त्व जग जीव रक्षण दयइयाए**

## भगवया पावयणं सुकहियं ।

भगवान् ने जो उपदेश दिये, वे सर्व जगत् के जीवों की रक्षा रूपी दया से अनुप्रेरित थे । जगत् के प्राणियों के प्रति उनका करुणा भाव उमड़ रहा था और उनकी देशनाओं में यह मानिये कि उनकी अपूर्व करुणा का प्रवाह ही प्रवाहित हुआ है । इसी के द्वारा सबको आत्म शक्ति के शोध की प्रेरणा प्राप्त होती है ।

### आध्यात्मिक आनन्द का प्रवाह

व्यापारी बड़ा चतुर व्यक्ति होता है । उसमें बुद्धि की अधिक क्षमता होती है । ऐसे परम ज्ञानी वीतराग देवों के उपदेशों को वह बड़े ध्यान से सुनता है । वह जानता है कि ये उपदेश बिल्कुल रागविहीन हैं । ऐसा उपदेश सुनेगे तो जरूर कुछ पा लेंगे । व्यापार की चतुराई ख़ास करके उसकी परख में होती है । वह उपदेश को परख लेता है तो उसकी तरफ झुक जाता है । व्यापार का किसी जाति से आज के युग में विशेष सम्बन्ध नहीं है लेकिन व्यापारी में बुद्धिकौशल होता है और क्षीरनीर विवेक भी होता है । यही कारण है कि विशेष रूप से बुद्धिवादी व्यक्ति भगवान् महावीर की वाणी पर अधिक मुग्ध हैं ।

प्रत्येक चतुर अपनी आत्म शक्ति की शोध में रहता है कि वह दूसरों पर आश्रित नहीं रहे । उसमें स्वाश्रय की भावना होती है । वह जानता है कि भीतरी शक्ति प्रकट हो जाती है तो उस व्यक्ति का आध्यात्मिक बल सुदृढ़ हो जाता है, वह आत्म निष्ठ भी हो जाता है । तब उसी व्यक्ति के अन्तःकरण से आध्यात्मिक आनन्द का प्रवाह प्रस्फुटित होता है । वह प्रवाह दिव्य होता है ।

आध्यात्मिक आनन्द के इस प्रवाह को प्रस्फुटित करने के लिए सबसे पहले जीवन्त जिज्ञासा को जगाइये ताकि अधिक से अधिक आत्मिक ज्ञान की उपलब्धि कर सकें । वीतराग वाणी को हृदयंगम कर सकें । महावीर प्रभु के वचन किस अनुपम वात्सल्य भावना से दुनिया के प्राणियों को सम्बोधन देते हैं बिना आत्मजागरण के यह तुम्हारा शरीर-तुम्हारा जीवन अबल है । आप कहेंगे, शरीर कैसे अबल है? क्या उसमें बल नहीं है? बल है, लेकिन कैसा बल है? जो आध्यात्मिक बल से शून्य है, वह अबल ही है, क्योंकि भौतिक बल चाहे कितना ही क्यों न हो-आध्यात्मिक बल के सामने मूल्यहीन होता है ।

बनारस विश्व विद्यालय के एक छात्र की घटना है । छात्र का नाम गौरीशंकर था । उसने ऊंचा अध्ययन किया था, अहंकार आ गया था । वह अपने गांव की ओर चला । उसने यही सोचा कि वह शास्त्रार्थ करेगा, सामने वालों को हरायेगा और धन व ख्याति का लाभ अर्जित करेगा । यह सोचकर चलते हुए वह रास्ते के प्रत्येक गांव में शास्त्रार्थ के लिए पंडितों को ललकारता और शर्त रखता कि कोई मुझे हरा देगा तो उसको मैं अपने सब पोथी पत्र जो पीछे गाड़ी में लदकर आ रहे हैं, दे दूंगा और मैं जिसको हरा दूंगा, वह मुझे सोने की एक पुतली भेंट करेगा । इस तरह वह रास्ते के बावन गाँवों में अपनी विजय फहराता हुआ बावन सोने की पुतलियां लेकर अपने गांव के समीप पहुंचा । केवल एक गांव बीच में रह गया था । उसके गांव में उसका भाई मंशाशंकर स्वागत की तैयारियां कर रहा था ।

बीच के बचे गांव में भी उसने अपना चैलेंज फैंक दिया । उस गांव में पटेल ही पटेल थे । केवल एक जैसा तैसा विद्वान था- उमाशंकर । अब चैलेंज फैंक दिया तो पटेलों के सामने उमाशंकर भी नीचा नहीं देखना चाहता था । वहां कोई निर्णायक विद्वान नहीं था इसलिये पांच पटेल ही निर्णायक बने । उमाशंकर ने शर्त रखी कि आप काशी के बड़े विद्वान हैं सो मैं हार जाऊंगा तो आपको सोने की पुतली भेंट करूंगा ही लेकिन यदि आप हार जायं तो गाड़ी भर पुस्तकों के साथ आपको बावन सोने की पुतलियां भी देनी पड़ेगी । गौरीशंकर ने शर्त मान ली और उसको प्रश्न पूछने को कहा ।

उमाशंकर ने पूछा-गटागत का क्या अर्थ है । गौरीशंकर उलझन में पड़ गया कि यह शब्द तो किसी पुस्तक में आया ही नहीं है । वह सकपकाने लगा । निर्धारित समय समाप्त हो गया तो पटेलों ने निर्णय दे दिया गौरियो हारियो ने उमियो जीतियो । गौरीशंकर को जीत का सारा माल दे देना पड़ा । अब वह निराश होकर अपने गांव में पहुंचा, जहां स्वागत की तैयारियां थीं । बड़े भाई ने बात सुनी तो वह हार का बदला लेने के लिये उसी समय उमाशंकर के गांव पहुंचा । वहां उसने शास्त्रार्थ का चैलेंज फैंका और बावन पुतलियों की शर्त रख ली । पटेल निर्णायक बन गये । उमाशंकर ने सोचा कि जिस प्रश्न से गौरीशंकर को हराया है, वही प्रश्न मंशाशंकर को भी पूछ लें । उसने पूछा गटागत किसे कहते हैं । प्रश्न सुनते ही मंशाशंकर ने लाल आंखे करके जोर से एक चाटा उमाशंकर के गाल पर लगा दिया और बोला-तुझे यह भी तमीज नहीं है कि पहले कौनसा प्रश्न पूछना और बाद में कौनसा प्रश्न पूछना । पहले का पता नहीं और बाद की बात पूछता है? पहले, पहले का प्रश्न पूछ और याद नहीं हो तो हार मान । उमाशंकर ने



हार मान ली तो पटेलों ने पूछा-वह पहला प्रश्न आप तो बताओं । तब मंशाशंकर ने कहा बीजं बीजा, उगं उगा, पतं पता, फलं फला, रसं रसा और फिर गटं गटा । पटेलों को भी बात समझ में आ गई। उमाशंकर को गौरीशंकर की बावन पुतलियां लौटानी पड़ी। कहने का अभिप्राय यह है कि संकट में केवल बुद्धिबल अथवा आत्म बल ही काम देता है। आत्मशक्ति का आश्रय ही सर्वश्रेष्ठ होता है।

आत्मशक्ति प्राप्त कीजिये!

मैं बता रहा था कि भगवान् पहावीर के वचन कितने सारपूर्ण हैं? क्या आप उनको ध्यान से सुनते हैं? मनुष्य का शरीर अबल है, उसकी बुद्धि अबल है। सबल है तो केवल उसकी आत्मशक्ति। लेकिन उसको इन्सान समझता नहीं, उसकी तरफ उसका ख्याल नहीं। यह भगवान् की वाणी उसका ध्यान दिलाने के लिये ही सुनाई जाती है। अपनी जागृति को जीवन्त बनाइये और आत्म शक्ति की शोध में निकल पड़िये।

दि. 3. 9. 77

## जगाना पंडित को, प्रतिबुद्धजीवी को

जब हम परमात्मा को वन्दन -करते हैं उस वन्दन के साथ उनके पवित्र स्वभाव और विशुद्ध ज्ञान की पवित्रता मन में व्याप्त हो जाती है। तब वह क्षण बड़ा महत्व पूर्ण बन जाता है। दिव्य आत्मा मनुष्य के चोले में अवश्य रहती है, लेकिन वह अपने ही स्वरूप से अनभिज्ञ है। आत्मा को आत्मा के रूप में जीना चाहिये। इस अभ्यास के लिए ज्ञान की आवश्यकता जिसको सम्यक ज्ञान है, वह पंडित कहलाता है।

आत्मा का आत्म रूप में जीना-या-शरीर रूप में जीना। ये दोनों मुख्य प्रश्न है। शरीर के रूप में जीने वाली आत्माएं सर्वत्र उपलब्ध होती है। दूसरा जीवन है वह आत्मस्थ जीवन होता है। जिसके प्रति सामान्य जन का ध्यान नहीं जाता। महावीर के अन्तिम उपदेश को हम आत्मसात करलें तो जीवन सार्थक बन जाता है।

महावीर ने भी घी में डाला है। धनवानों से सम्बन्ध जोड़ दिया पंडितों और बुद्धि जीवियों के लिए उपदेश क्यों नहीं दिया। पंडितों को प्रेरणा दी तो अज्ञानियों को प्रेरणा क्यों नहीं दिया। जो व्यक्ति शरीर जीवी होता है, उसका सारा ध्यान पेट पूर्ति में ही लगा रहता है। अन्न ही अन्न उनके मनमें घूमता रहता है। सोते-जागते-उठते-बैठते अन्न का ही ध्यान रहता है। ऐसे व्यक्ति पर उपदेश का कोई असर नहीं पड़ता।

लोग बुद्ध और महावीर को समान मानते हैं, वे महावीर की सर्वज्ञता के साथ न्याय नहीं करते हैं। बुद्ध का ज्ञान स्थूल पदार्थों की तरफ था। मैं आत्म शान्ति का उपदेश देता, तब भी तुम अन्न का ही सुनते। जिस व्यक्ति के मन में अन्न बैठा हुआ हो, उपदेश उसके गले नहीं उतरेगा। अन्न का परित्याग शक्ति के अनुसार ही हो सकता है। अन्न को शरीर की पूर्ति तक ही रखें। उसको सिर पर न चढावें। अन्न ही सब कुछ है। जिसका ऐसा दृष्टिकोण है। किन्तु अन्न के बिना काम नहीं चलता है। शरीर नहीं चलेगा तो धर्म साधना कैसे होगी। अन्न खाते हुए भी साधु का ध्यान साधना की ओर लगा हुआ होना चाहिए। शिक्षा साधुओं के लिए ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की साधना में सहायक है। इसी भावना से उसे ग्रहण करें। संयम

*निर्वाह के लिए अन्न ग्रहण करो, स्वाद की दृष्टि से नहीं। अगर अन्न त्यागने की ताकत नहीं होगी तो लोग उपवास भी नहीं कर सकेंगे। अन्न का उपयोग करते हुए भी साधु का ध्यान साधना की ओर लगा रहता है। एक साधु को अन्न ग्रहण करते-अच्छा है, नमक नहीं है ऐसा सोचकर आहार न ग्रहण करें। जो भगवान के उपदेश के अनुसार प्रति बुद्ध जीवी बन गया है। वह धर्म स्थान में भी धर्म करेगा।*

**श्री सुपाश्रं जिन वंदिए.....**

परमात्मा के पवित्र चरणों में जब कभी वन्दन का अवसर आता है और उस वन्दन के साथ उनके पवित्र स्वभाव एवं विशुद्ध ज्ञान की पवित्रता मन में व्याप्त होती है तो वह क्षण इस जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाता है। जब कभी भी मनुष्य के उद्धार होने का प्रसंग आएगा- उस पवित्रतम स्वरूप को प्रकट करने का अवसर मिलेगा, उस वक्त इस आत्मा का प्रभाव एवं आत्मिक शक्ति का रूप वर्तमान के स्वरूप से बहुत भिन्न होगा।

वर्तमान में यह दिव्य आत्मा इस मनुष्य के चोले में अवश्य रह रही है, लेकिन वह अपने ही स्वरूप से अनभिज्ञ है। इस शरीर के आश्रय से वह जी रही है, परन्तु उसका जीना इस शरीर तक ही सीमित बना हुआ है। मुख्य प्रश्न या समस्या कह दें तो वह यही है कि आत्मा को आत्मा के रूप में जीना चाहिये या आत्मा को शरीर रूप में जीना चाहिये? आत्मा जो स्वयं के रूप में नहीं जीती है, उसको अपने रूप में जीने की अभ्यासी कैसे बनावें?

इस अभ्यास के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। जिसको सम्यग्ज्ञान है, वह पंडित कहलाता है और जो अपने आत्म विकास के प्रति जागृत होकर चल रहा है उसको प्रतिबुद्धजीवी कहते हैं तो पंडित और प्रतिबुद्धजीवी को भगवान् ने विशेष सन्देश जागने का दिया है कि वे आत्म स्वरूप को प्राप्त करें।

**पुरुष: आत्मा में जीने वाले  
अथवा शरीर में जीने वाले**

आत्मा का आत्म रूप में जीना या शरीर रूप में जीना -ये ही दो मुख्य प्रश्न है। शरीर के रूप में जीने वाली आत्माएं प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होती है। वह अपने शरीर के प्रति जीवित है अर्थात् शरीर के सहारे शरीर के रूप में वह जीना चाहती है। और इस जीवन में शरीर की साधन-सुविधा को ही सब कुछ मानती है। शरीर का साधन अन्न है, जल है, वैभव है-आज इनके सहारे जीवन को समझ करके चलने का यत्न किया जा रहा है। लेकिन इस को समझने का प्रयास कम किया जा रहा है कि यह अन्न और जल आदि ही जीवन का परिपूर्ण आश्रय नहीं है।

अन्न, जल आदि शरीर के मदद्गार अवश्य हैं, लेकिन शरीर से परे का जो तत्त्वपूर्ण जीवन है, वह अन्न जल आदि के सहारे नहीं है, यह मात्र शरीरस्थ जीवन नहीं है, कुछ दूसरा ही जीवन है। वह आत्मस्थ जीवन होता है, जिसके प्रति सामान्य जन का ध्यान नहीं जाता है। जिसके प्रति ध्यान दिलाने के निमित्त से ही सारा बोध प्रतिबोध दिया जाता है। भगवान् ने भी जनता के समक्ष यही बात कही कि हे मानव, तू जी अवश्य रहा है लेकिन जी किसके प्रति रहा है-इसका ज्ञान अवश्य लें। इस रूप में जीवन जीने वाले पुरुष इस संसार में दो प्रकार के हो जाते हैं एक तो आत्मा में या आत्मा के प्रति जीवन जीने वाले तथा दूसरे शरीर में अथवा शरीर के प्रति जीवन जीने वाले।

महावीर प्रभु ने आत्म ज्ञान की बहुतेरी बातें बताई हैं और जीवन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, लेकिन अपने जीवन के अन्तिम समय में जो देशना या संदेश उन्होंने दिया, उस सारभूत सन्देश को यदि यह आत्मा समझले तो उसका जीवन सार्थक बन जावे। उन्हीं अन्तिम सन्देशों में एक महत्वपूर्ण सन्देश यह है जो शास्त्रीय गाथा के रूप में इस प्रकार है-

**सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिय आसुपन्ने ।**

**धोरा मुहत्ता अबलं शरीरं, भारंडपक्खीव चरेपमत्तो ॥**

उन्होंने सम्बोधन दिया, किसको? उसको जो पंडित हैं, आसुपन्न हैं, प्रतिबुद्धजीवी हैं तथा जो सोते हुए भी जागते हैं एवं सदा अप्रमत्त भाव से चलते हैं।

## पंडित और प्रतिबुद्धजीवी को प्रभु का सन्देश क्यों ?

आप सोचेंगे कि भगवान् महावीर ने यह जो उपदेश दिया, वह पंडित और प्रतिबुद्धजीवी को क्यों दिया, जबकि वे पंडित और प्रतिबुद्धजीवी हैं? उनको उपदेश की आवश्यकता ही क्या है? यों देखें तो यह विचार उठता है कि उपदेश तो उनको दिया जाना चाहिये जो पंडित या प्रतिबुद्धजीवी नहीं है और जो गफलत में पड़े हुए हैं या जिनकी बुद्धि समुचित रूप से प्रस्फुटित नहीं हुई है। उपदेश तो प्रतिबुद्धजीवी की बजाय अज्ञोपजीवियों को दिया जाना चाहिये। इन्हें अज्ञ प्रतिजीवी भी कह सकते हैं। प्रतिअज्ञजीवी या प्रतिशरीर जीवी वे हैं जो अपने ही आत्मस्वरूप के प्रति संज्ञाहीन हैं तथा अज्ञ आदि को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानकर चल रही हैं। शरीर में रहते हुए शरीर ही मेरे लिये सबकुछ है, ऐसी धारणा रखने वाले व्यक्तियों को सम्बोधन करने से वे जग सकते हैं और वे भगवान् के इन वचनों के वास्तविक अधिकारी बन सकते हैं। उन को सम्बोधित नहीं करके भगवान् ने पंडित और प्रतिबुद्धजीवी को जो सम्बोधन दिया है, आखिर उसमें क्या रहस्य है?

क्या कोई यह तो नहीं कह देगा कि भगवान् ने भी घी में घी डाल दिया ? दुनिया में कहावत है कि घी में घी डाल दिया अर्थात् धनवानों ने धनवानों से सम्बन्ध जोड़ लिया, पूंजीपति है, उन्हीं को पूंजी दी लेकिन जो पूंजीपति नहीं है, गरीब या अनाथ है, उनको कुछ भी नहीं दिया। पानी बरसा तो सारा समुद्र में ही बरसा-वह अंकुरित होती हुई खेती पर नहीं बरसा तो उस बादल ने यह क्या किया? बादल अगर समुद्र में ही बरसता है और खेतों में नहीं बरसता तो दुनिया वैसे बादलों को अवश्य उपालंभ देगी इस उद्घोषणा से भी, जिन्होंने महावीर प्रभु के दिव्य स्वरूप को नहीं समझा है, उनकी ऐसी भावना बन सकती है कि वैसे बादलों की तरह भगवान् ने भी अपनी उपदेश धारा पंडितों और प्रतिबुद्धजीवियों पर बरसाई है लेकिन अज्ञानियों और शरीरजीवियों को उन्होंने छोड़ दिया है। उन्होंने पंडितों को प्रेरणा दी तो अज्ञानियों को प्रेरणा क्यों नहीं दी? प्रश्न-प्रश्न के तरीके से सामने आता है और प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान वायु मण्डल में ही इसको लेता है, लेकिन बात कुछ और है।

भगवान् ने जो पंडित, प्रतिबुद्धजीवी तथा आसुप्रज्ञ को सम्बोधित किया है, यह सम्बोधन उसके ज्ञान की सबसे बड़ी विशिष्टता का घोटक है। जो व्यक्ति शरीर जीवी होता है, उसका सारा ध्यान पेट की पूर्ति में ही लगा रहता है। रात दिन उसके मन में अज्ञ ही अज्ञ घूमता है, वह अज्ञ को सबसे बड़ा मानकर चलता है तथा सोते जागते उठते-बैठते उसको अज्ञ का ही ध्यान रहता है। जो व्यक्ति बढ़िया से बढ़िया भोजन को ही जीवन का ध्येय मान लेता है, उस व्यक्ति को कितना ही उपदेश दिया जाय, वह उस उपदेश को स्थिर मन से सुन नहीं सकता है। इसलिये जागृत को पहले मार्ग दर्शन दिया जाय-यह समीचीन होता है।

## उपदेश मांगने वाले को उपदेश देने से धर्म-लाभ

समझिये कि एक शिक्षक के पास दो शिष्य हैं। एक अध्ययन में पूरी अभिरुचि रखने वाला और दूसरा उस अभिरुचि से विहीन, तो दोनों में से कौन पहले अध्ययन करेगा और शिक्षक किसको पहले सम्बोधन देना चाहेगा? स्वभाविक है कि अभिरुचि को ही प्राथमिकता मिलेगी। यह हो सकता है कि अभिरुचि वाले शिष्य के विकास को देखकर बिना अभिरुचि वाला शिष्य भी प्रेरणा प्राप्त करले। उसी रूप में उपदेश मांगने वाले को उपदेश देने से विशेष धर्मलाभ हो सकता है। लेकिन जो उपदेश की बजाय पहले अज्ञ मांगता है और उसका ध्यान अज्ञ में लगा हुआ है, वह उस उपदेश का सामान्य मूल्यांकन भी नहीं कर पाएगा यह दृष्टिकोण उस शिक्षक की तरह उपदेशक के भी ध्यान में रहता है।

महात्मा बुद्ध के पास एक बार एक व्यक्ति पहुंचा। उसने कहा मुझे कुछ प्रतिबोध दीजिये। बुद्ध ने उस व्यक्ति का बारीकी से अवलोकन किया और पास में जो दूसरा व्यक्ति खड़ा था, उसको कहा देखो इस व्यक्ति को अपने साथ ले जाओ और पहले इसको तृप्तिपूर्वक भोजन कराओ। बुद्ध जैन मुनियों की तरह आचार का पालन करने वाले नहीं थे। उल्लेख मिलता है भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में पहले वे जैन मुनि भी बने थे, लेकिन वे उस कठोर साधना को सहन नहीं कर पाये तथा तप की स्थिति में उलझ गये। फिर उन्होंने अलग साधना की और अपने जीवन की अवस्था से उन्होंने बोध पाया। श्रीरामधारीसिंह दिनकर ने संस्कृति के चार अध्याय में महात्मा बुद्ध का ही वाक्य लिखा है कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूं, मुझे कोई सर्वज्ञ कहता है, वह झूठ बोलता है। तो वे अपने आप को सर्वज्ञ नहीं मानते थे। उन्होंने ऊंचा विकास किया था और वे अपने ढंग के महात्मा थे। लोग बुद्ध महावीर को समकक्ष

रखते हैं, वे महावीर की सर्वज्ञाता के साथ न्याय नहीं करते हैं। बुद्ध का ज्ञान स्थूल पदार्थों की तरफ था। उन्होंने उस आगन्तुक व्यक्ति को पहले उपदेश नहीं दिया, पहले भोजन दिलाया। जब भोजन से तृप्त होकर वह वापस लौटा तो उसने फिर निवेदन किया- महात्मन् मैं तो आपके यहां भोजन करने के लिए नहीं आया था, उपदेश सुनने के लिए आया था। आपने उपदेश नहीं देकर पहले भोजन कराया, इसका क्या तात्पर्य है ! तब बुद्ध ने कहा तुमने भोजन मांगा नहीं, लेकिन बताओ तुम्हारा मन क्या चाह रहा था ! ऐसा लगता था कि तुम दो-तीन दिन से भूखे थे और भूखा आदमी पहले रोटी खाना चाहता है। भूखा रहना और तपस्या करना अलग अलग बातें हैं। इच्छापूर्वक तपस्या करके उपदेश मांगते तो उस वक्त उपदेश सुनाना योग्य होता, क्योंकि कि तुम्हारी भावना अन्न की तरफ नहीं होती-उसमें उपदेश की भूख दिखाई देती। वह उपदेश की भूख मुझे तुम्हारे में नहीं दिखाई दी तो मैं तुमको उपदेश क्या सुनाता? मैं आत्म शान्ति का उपदेश सुनाता तब भी तुम अन्न को ही सुनते। अब तुम्हारा मन अन्न की स्थिति से निवृत्त हुआ है, इसलिये अब चाहो तो उपदेश सुनाने को मैं तत्पर हूँ।

यह एक रूपक है जिससे आप जान पायेंगे कि जिस व्यक्ति के मन में अन्न बैठा हुआ हो, वह उपदेश कितनी गहराई से सुन सकेगा? अन्नजीवी पहले प्रतिबुद्ध जीवी बने-यह उपदेश ग्रहण करने की आवश्यक स्थिति है।

## प्रतिबोध उसको, जो अन्न के लिये नहीं, बोध पाने के लिये जी रहा है

इसलिये भगवान् महावीर ने प्रेरणा प्रतिबुद्धजीवी को दी है। प्रतिबोध उसको, जो अन्न के लिये नहीं, बोध पाने के लिए जी रहा है, क्योंकि वही बोध को सम्यक रूप से ग्रहण करता है। प्रतिबुद्धजीवी का तात्पर्य है कि जो बोध के लिये तथा सिर्फ बोध के लिये जीता है, इसीलिये वैसे व्यक्ति को सम्बोधन दिया गया है। जिसको जिन बात की भूख है-जैसी उसकी अभिलाषा है, उसको वही चीज रुचिकर होगी। किसी की अभिलाषा भौतिक तत्त्वों की है और उसको आध्यात्मिक बोध दिया जाय तो वह उसके पल्ले नहीं पड़ेगा।

आप सोचेंगे कि अन्न की अभिलाषा की बात तो अधिकांश लोगों में पाई जाती है। अन्न के बिना कौन रहता है ? सबको अन्न चाहिये। अन्न को गृहस्थ भी ग्रहण करता है तथा अन्न को सन्त भी ग्रहण करता है। इस दृष्टि से क्या अन्न को ग्रहण करने वाले भगवान् के प्रतिबोध के पात्र नहीं होते हैं? ऐसी बात नहीं है। अन्न ग्रहण करने का निषेध नहीं किया गया है। अन्न का त्याग करके ही उपदेश सुने-यह भी तात्पर्य नहीं है। अन्न शरीर का सहायक है और सब शरीरधारियों के लिये अन्न आवश्यक है। अन्न का परित्याग शक्ति के अनुसार ही हो सकता है। अगर अन्न त्यागने की ताकत ही न हो तो लोग उपवास भी नहीं कर सकते हैं। लेकिन समझने की बात यह है कि इस अन्न को निरपेक्ष भाव से शरीर की पूर्ति की अवस्था तक ही रखें -उसको सिर पर नहीं चढ़ावें कि मन और मस्तिष्क में अन्न ही अन्न बस जाय।

अन्न ही सबकुछ है-जिस व्यक्ति का ऐसा दृष्टिकोण है, अवश्य ही वह उपदेश का पात्र नहीं है। उपदेश की अभिलाषा रखने वाला व्यक्ति यह समझता है कि अन्न इसलिये लेता हूँ क्योंकि अन्न के बिना शरीर नहीं चलता और शरीर नहीं चलेगा तो धर्म साधना कैसे होगी? अतः वह सोचता है कि मैं धर्म साधना के लिये अन्न ग्रहण कर रहा हूँ। भगवान् महावीर ने इस रूप में अन्न का निषेध किया है।

भगवान् महावीर ने सन्तों के लिये अन्न की विधि बताई है। जो अन्न ग्रहण करता है, वह भोजन के लिये साधु नहीं बनता है बल्कि अन्तःकरण में बोध पाने तथा साधना करने के लिये साधु बनता है। अतः अन्न खाते हुए भी साधु का ध्यान साधना की ओर लगा हुआ होना चाहिये। इसलिये भगवान् ने कहा है कि यदि तुम्हारे समक्ष भिक्षा आवे तो मन उसमें उलझे नहीं। तुम ध्यान रखो कि भिक्षा तुम्हारे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना में सहायक है-इस भावना से उसे ग्रहण करो। आहार ग्रहण करने के छः कारणों का वर्णन अभी उपयुक्त नहीं रहेगा, लेकिन उन छः कारणों में से एक यह है कि संयम का निर्वाह करने के लिये अन्न ग्रहण करो-उसमें स्वाद की दृष्टि मत रखो। प्रतिबुद्धजीवी होकर भिक्षा लाओ और उस समय ख्याल रखो कि मेरे अन्दर बोध वाली आत्मा है। छोटे बड़े सभी जीवों के साथ आत्मीय व्यवहार रखो। यह भगवान् का प्रतिबोध है कि अन्न के लिये नहीं, बोध के लिये जीओ। अन्न बोध का सहायक बने।

प्रतिबुद्धजीवी जीने के लिये खाता है

## खाने के लिये नहीं जीता

प्रतिबुद्धजीवी जीने के लिये खाता है, खाने के लिये नहीं जीता । वह समझता है कि धर्म साधना में यह शरीर सहायक होता है और शरीर के निर्वाह के लिये अन्न आवश्यक है । अन्न कैसा पका हुआ है-इसमें उसकी कोई दिलचस्पी नहीं होती है । उसका लक्ष्य तो शरीर का किसी भी प्रकार निर्वाह करके धर्म साधना करने का होता है । इसी दृष्टि से एक साधु के लिये विधान है कि वह जब गृहस्थ के घर में भिक्षा लेने जावे और चौके में कुछ अंधेरा होने से श्रावक बिजली का बटन दबा दे तो साधु को भिक्षा छोड़ कर चले आना चाहिये क्यों कि अपने शरीर तुल्य दूसरी आत्माओं के जीवन का घात किया जाय, वह उचित नहीं होता है । जहां बिजली का आरम्भ है, वहां छः काया का आरम्भ है । अतः बिजली जला कर उन जीवों की घात कर दी तो साधु को वहां भिक्षा नहीं लेनी चाहिये । ऐसी बारीक स्थिति का प्रतिपादन बयालीस दोषों में किया गया है, जिनको टालकर भिक्षा लेने का विधान है ।

इसी दृष्टि से गृहस्थ के यहाँ से आयी वस्तु को समभाव से ग्रहण करना चाहिये । एक साधु को स्वाद की तरफ प्रवृत्त नहीं होना चाहिये । नमक कम ज्यादा है तो क्या अथवा रोटी गेहूँ की है तो क्या या मक्की की है तो क्या या शाक में स्वाद है या नहीं इन सब बातों की तरफ साधु का ध्यान नहीं जाना चाहिये । वह तो यही सोचे कि मुझे भोजन करने के लिये भोजन नहीं करना है, बल्कि शरीर को धर्म साधना में चलाने के लिये ही भोजन करना है । इस प्रकार की भावना के साथ जो अन्न ग्रहण करता है, वह प्रतिबुद्धजीवी होता है और इसी कारण भगवान के बोध का प्रथम अधिकारी बनता है ।

इसके विपरीत यदि साधु इसमें माथा लगाता है कि कैसे गृहस्थ हैं इतना भी विवेक नहीं कि नमक डालना भूल गये तो शास्त्रकार कहते हैं कि वह साधु होते हुए भी प्रतिबुद्धजीवी नहीं है । वह संयम का धुंआ निकाल रहा है जहाँ साधु के लिये बारीकी से विश्लेषण किया गया है, वहां गृहस्थ के लिये भी निर्देश है कि वह भी भोजन को किस दृष्टि के साथ ग्रहण करें ? उसको भी अपने भीतर प्रतिबुद्धजीवी के स्वरूप को विकसित बनाना चाहिये याने कि वह भी खाने के लिये नहीं जीए बल्कि जीने के लिये खावे और निरेपक्ष भाव से खाने का अभ्यास बनावे । तात्पर्य यह है कि शरीर और मन से परे आत्मा का जो स्वरूप है, एक साधक उसकी सदा सर्वदा सुरक्षा करते हुए आहार करें । श्रावक भी इस दृष्टि बिन्दु के साथ आहार करता है तो भगवान् के उपदेश का अधिकारी बनता है ।

## आहार करते समय कर्म क्षय भी तथा कर्मों का बंध भी

आप इन बातों को सुनते हुए कभी कुछ उलझन में न पड जायें । मैं जिस दृष्टिकोण से कह रहा हूँ, उस दृष्टिकोण को समझें । एक श्रावक सोचता है कि मैं धर्मस्थान पर जाकर धर्म करणी करूँ । उसकी धारणा रहती है कि धर्म स्थान पर ही धर्म होगा । लेकिन जो भगवान् के उपदेश के अनुसार प्रतिबुद्धजीवी बन गया है, वह धर्मस्थान पर भी धर्म करेगा और धर्म की शिक्षा पाकर घर पर जाएगा तो वहां पर भी धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत रहेगा । घर पर भोजन करने बैठेगा तब भी वह अपनी अनाशक्त भावना से सभी प्रकार के कर्मों को तोड़ेगा तथा धर्म और पुण्य का उपार्जन करेगा । यदि वह भगवान् के उपदेश का तात्पर्य नहीं समझ रहा है तो आहार करते समय भी अज्ञानतावश स्वाद आदि की तारीफ करता हुआ अथवा निन्दा करता हुआ कर्मों का बंध कर लेगा । आहार करते समय अपनी भावना के अनुसार एक आत्मा हल्की भी बनती है तो एक आत्मा भारी भी होती है । वह भोजन करता सुबाहुकुमार सरीखा हो सकता है । और सुबाहुकुमार के ठीक विपरीत भी बन सकता है । सुबाहुकुमार का वर्णन लम्बा चौड़ा आया है । उसको देखकर गौतम स्वामी को भी आश्चर्य हुआ । उसकी अवस्था व उसके लावण्य आदि को देखकर उन्होंने भगवान् से प्रश्न किया-

कि वा दच्चा कि वा भोच्चा किं वा समायरिता । अर्थात् इसने ऐसा क्या दान किया क्या खाया और क्या आचरण साधा कि आज वह देव के समान कमनीय एवं समृद्धिशाली बना हुआ है? यदि उसकी पूर्व पुण्यवानी नहीं होती तो गौतम गणधर भगवान् से यह प्रश्न नहीं पूछते । यह मौलिक प्रश्न है ।

अभी की दुनिया यह सोचती है कि जो गृहस्थ करता है, वह पाप ही करता है तथा जो साधु करता है, वह धर्म ही धर्म करता । यह बात महावीर की नहीं, लोगों की है । ऐसी पक्षपातपूर्ण बात भगवान् नहीं कहते हैं । वे यह कहते हैं कि जो साधु रसलोलुप वह पाप करता है । और जो गृहस्थ रसलोलुपता का त्याग करता है, वह धर्म कमाता है, जहां तक सुबाहुकुमार का प्रश्न है, इस चर्चा से

आप सोचें कि गृहस्थाश्रम में रहने वाले व्यक्ति का भी क्या दृष्टिकोण रहना चाहिये ? उसका मन किसमें रहे ? सिर्फ अन्न, वस्त्र, मकान, तिजोरी, कामवासना तथा पाँचों इन्द्रियों की लोलुपता में ही मन लगा रहे या वह उत्कर्ष की दूसरी दिशाएं पकड़े। उसके मन में यह रहना चाहिये कि तीन मनोरथ तथा उत्तम भावना का चिन्तन चले। उसमें से एक मनोरथ यह है कि एक दिन वह सारे आरंभ-समारंभ का त्याग करके पवित्रात्मा बनने की दिशा में आगे बढ़ेगा। उस मनोरथ की भावना के साथ वह प्रतिबुद्धजीवी बनता है।

कोई कितना ही अक्षरज्ञान करले तथा बड़ा विद्वान् बन जाय, लेकिन जिसके मन से पांच इन्द्रियों की लालसाएं नहीं निकले तो वह विद्वान् होते हुए भी सही अर्थों में पंडित नहीं कहला सकता है। और पंडित नहीं तो उपदेश का पात्र भी नहीं। उपदेश का पात्र वही बन सकता है जो पांच इन्द्रियों के विषयों से-मन और शरीर से ऊपर उठ जाता है, भीतर का ज्ञान पाने की तीव्र अभिलाषा रखता है। तथा रात दिन साधना में एकाग्र बन जाता है। वह पंडित भी है तथा प्रतिबुद्धजीवी भी है- भले ही वह पंडित नहीं कहलाता हो।

## पंडित कौन प्रतिबुद्धजीवी कौन ?

मैं यह बतला रहा था कि एक व्यक्ति विद्वता से परिपूर्ण हो सकता है, फिर भी पंडित की संज्ञा नहीं पा सकता। दूसरा व्यक्ति ऐसा होता जो पंडित से बढ़कर कार्य करता है-चाहे उतना विद्वान न हो। ज्ञान को जो आचरण में लाता है और आचरण में स्थिरता से चलता है-बोधपूर्वक चलता है, वही पंडित अथवा प्रतिबुद्धजीवी कहलाता है।

एक ऐतिहासिक घटना है। राजा भोज की राजसभा में कालिदास आदि बहुतेरे पंडित एकत्रित हुआ करते थे तथा बहुतेरी चर्चाएं चलती थी। एक दिन एक ऐसा नया विद्वान उपस्थित हुआ जो बौद्धिक दृष्टि से कलावान् एवं शास्त्रार्थ में विजेता था। उसके मस्तिष्क में यह ध्यान बंध गया था कि मुझसे शास्त्रार्थ में कोई जीत नहीं सकता है और मेरे से चर्चा करते हुए यदि कोई आकाश में भागना चाहे तो। निसरणी लगाकर उसको पकड़ कर नीचे ले आऊं यदि हार कर पाताल में घुसना चाहे तो कुदाली से खोद कर निकाल दूँ और यदि तिरछे लोक में जावे तो कमर से बांध लूँ। इसके तीनों साधन उसने जुटा रखे थे। प्रतीक स्वरूप एक निसरणी, एक कुदाली और एक रस्सी वह हर समय अपने पास रखता था। राजा भोज की सभा में भी उसने अपनी विजय का डंका पीटा ! वहां पंडितों ने विचार किया कि इसके साथ चर्चा करने में कोई सार निकलने वाला नहीं है लेकिन इसके दिमाग को ठीक करने के लिये कोई दूसरा उपाय ढूंढना चाहिये। दूसरे दिन का समय शास्त्रार्थ के लिये नियत कर लिया गया तथा आगन्तुक विद्वान को विश्राम करने के लिये भेज दिया। शर्त यह रही कि जो हारेगा, वह हराने वाले का शिष्य बन जायगा।

कालिदास ने सोचा कि इसके लिये ऐसा व्यक्ति खोजा जाना चाहिये जो मन से एकाग्र हो। अक्षर ज्ञान जरूरी नहीं, लेकिन उसका मन सधा हुआ हो। जब वह घूमने जा रहे थे तो उनकी नजर एक गांगा नामके तेली पर पड़ी जो धाणी चलाता था। उसके मन में एकाग्रता इतनी थी कि वह धाणी चलाता हुआ वहां से तैल लेकर दूर पड़ी हुई हंडिया में धाणी पर बैठा बैठा ही डाल देता था लेकिन तैल की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरती थी। सभी पंडितों से सलाह करके कालिदास ने यह निश्चय किया कि आगन्तुक विद्वान का इस गांगा तेली से शास्त्रार्थ कराया जाय। कालिदास ने गांगा तेली को समझा दिया कि उसको कुछ नहीं बोलना है, वह बैठा रहे, बाकी काम हम सब कर लेंगे।

दूसरे दिन राजा भोज की सभा जमी। एक और आगन्तुक विद्वान तथा दूसरी तरफ गांगा तेली शास्त्रार्थ के लिये बैठ गये। वहां के विद्वानों ने आगन्तुक से कहा-ये हमारे गुरुजी हैं, आप इनके साथ शास्त्रार्थ कीजिये। मुंह से नहीं बोलेंगे, केवल इशारों से ही बातें करेंगे। यदि आप जीत गये तो आपको प्रमाणपत्र मिलेगा और हार गये तो अब तक के सारे प्रमाणपत्र छीन लिये जायेंगे। आगन्तुक विद्वान उस विचित्र आकृति को देखकर यह समझ बैठा कि यह तो कोई बहुत बड़ा विद्वान मालूम होता है-इसको सबसे पहले क्या पूछूं ? बोलना तो था नहीं, उसने एक अंगुली हिलाकर इशारा किया। गांगा तेली ने सोचा-यह मेरी एक आंख फोड़ना चाहता है तो मैं इसकी दोनों आंखें फोड़ दूंगा। यह सोचकर उसने अपनी दो अंगुलियां हिलाई उस विद्वान् को अपना उत्तर मिल गया। तब उसने अपनी पांचों अंगुलियां ऊंची की। तेली ने सोचा कि वह मेरे चांटा मारना चाहता है तो उसने अपना मुक्का दिखाया। उस उत्तर ने भी आगन्तुक विद्वान को संतुष्ट कर दिया। वह तो तेली के पैरों में गिर पड़ा कि मैं हारा, आप मेरे गुरु और मैं आपका चेला। सभी पंडित मन ही मन मुस्कराए। आगन्तुक पंडित से उन्होंने पूछा -हो गया आपका शास्त्रार्थ ? उसने कहा-आपके

गुरुजी बहुत बड़े विद्वान हैं। वे तो जानते थे कि तेली कैसा विद्वान है? लेकिन उसकी क्या विद्वता इसको दिखाई दी-यह इसी से पूछना चाहिये। उन्होंने पूछा आपके क्या प्रश्न थे और गुरुजी ने उनके क्या उत्तर दिये ?

आगन्तुक पंडित ने कहा-मैंने एक अंगुली के इशारे से यह कहना चाहा था कि इस संसार में एक ही ब्रह्म है, लेकिन आपके गुरुजी ने उत्तर दिया नहीं दो तत्त्व हैं, -ब्रह्म और माया, जड़ और चेतन तथा प्रकृति और पुरुष। इसलिये वे जीत गये। फिर मैंने पांचों अंगुलियां दिखाकर बताया कि ये पांच इन्द्रियां परमात्मा को पाने में बाधक है तो उन्होंने मुट्ठी दिखाकर उत्तर दे दिया कि इन्द्रियों को वश में कर लो। आपके गुरुजी बड़े विद्वान हैं, मैं हार गया।

मैं आपको बता रहा था कि पंडित और प्रतिबुद्धजीवी कौन होता है? जिसके मन की एकाग्रता सध जाती है और जो पांचों इन्द्रियों के विषयों पर काबू पा लेता है, वही यथार्थ में सच्चा पंडित और प्रतिबुद्धजीवी बन जाता है।

पंडित और प्रतिबुद्धजीवी जगेगा  
तो फिर दूसरे भी जगेगे

भगवान् ने प्रतिबुद्धजीवी तथा पंडित आदि को जो जगाने का सन्देश प्राथमिकता के आधार पर दिया है, उसका यही रहस्य है कि जो प्रतिबोध लेने में एकाग्र बन जाएगा, वही उस प्रतिबोध को निष्ठापूर्वक आत्मसात् कर सकेगा। इस कारण उसे पहले जगाया जाता है तो वह दूसरों की जागृति को अनुप्रेरित कर सकेगा।

प्रत्येक भव्य आत्मा को इस रूप में पंडित और प्रतिबुद्धजीवी बनना चाहिये तथा एकाग्रमन से भगवान् के उपदेश सुनने चाहिये व जीवन में उतारने चाहिये।

दि. 4. 9. 77

## आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाएं

*इस विश्व पर भगवान की महान कृपा रही है। उन्होंने भव्य जीवों के लिए दिव्य मार्ग बताया है। ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य तीनों की आराधना आत्म पुरुषार्थ से ही संभव होती है। प्राणी भोजन करने की प्रक्रिया करता है। सामने भोजन रखा हुआ तो भोजन करके भी लालसा बढ़ जाती है। शक्ति का प्रवाह आत्मा को कार्य करने की शक्ति देता है। इस शक्ति प्रयोग आत्मा के उपयोग पर निर्भर करता है। जीवन में अच्छी और बुरी आदत डाली जा सकती है। बुरी आदत को अच्छी आदत में तथा अच्छी आदत को बुरी आदत में बदली जा सकती है।*

*मनुष्य अपने में बुरी आदत डाल देता है, वह आदत उसे परेशान भी कम नहीं करती है। सोचने की शक्ति ज्ञानी और अज्ञानी के बीच अन्तर डालती है। आत्मा ही निज स्वरूप, निज स्वभाव और निज ज्ञान से विस्मृत बन जाती है। पीड़ा पैदा करने वाली भी मैं ही हूँ। पुरुषार्थ का प्रयोग अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। त्यों-त्यों भीतरी शक्ति फूटती रहती है। दिशा निश्चित हो, लक्ष्य स्पष्ट हो तो फिर पुरुषार्थ और शक्ति प्रवाह दोनों एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं, अधिक पुरुषार्थ से अधिक शक्ति फूटती है। पुरुषार्थी शक्ति अपने जीवन को सर्वश्रेष्ठ बना लेता है। किसान जैसा बोता है वैसा ही फल पाता है।*

श्री सुपाश्र्व जिन वंदिए.....

जिन भगवान् की इस विश्व पर महती कृपा रही है। उन्होंने भव्य जीवों के लिये जो आत्मोत्कर्ष का दिव्य मार्ग बताया-आध्यात्मिक पवित्र शुद्धि के लिये जिस सत्पथ का निर्देश दिया, वह निर्देश और उपदेश आज भी मिल रहा है। यद्यपि इस भूमि पर महाविदेह क्षेत्र में विराजित साक्षात् जिन भगवान् के मुखारविंद से तो वह उपदेश अभी नहीं मिल रहा है लेकिन उनके उपदेशों का

जो संकल्प गणधरों ने किया, वह संकल्प आज के इस अशान्त विश्व में शान्ति का सन्देश बनकर जन मानस को आह्लादित करने में पूर्णतः समर्थ है, परन्तु उन उपदेशों से आह्लादित होने वालों की भी आवश्यकता है।

यह आत्मा चातक पक्षी की तरह वीतराग अवस्था की भावना को मन में रखकर उपदेशों को श्रवण करने में और उनके अनुसार अपना आत्मपुरुषार्थ नियोजित करने में तत्पर बन जाय तो वह अपना विशेष हित सम्पादित कर सकती है। केवल श्रवण मात्र से भी कल्याण होने वाला नहीं है। सुनने को श्रद्धा के साथ पूरा करें तो उससे आत्म ज्ञान की प्राप्ति होगी, किन्तु उसके साथ ही श्रद्धा के साथ उस पर आचरण करेंगे तब आत्मा का परिपूर्ण कल्याण हो सकेगा। आचरण में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। वैसे तो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य तीनों की आराधना आत्म पुरुषार्थ से ही संभव होती है, लेकिन चारित्र्य की साधना में पूर्ण पुरुषार्थ का नियोजन होना चाहिये। इसी रूप में आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाएं इस जीवन में जब कार्यरत बनती हैं तो जीवन का विकास त्वरित गति से उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर तथा उत्कृष्टतम अवस्था तक पहुंच सकता है।

## जीवन की प्रक्रियाएं दो प्रकार की

जीवन की किसी भी प्रक्रिया का प्रारंभ दो प्रकार से होता है। एक तो स्वाभाविक गति से-सहज तौर पर जो प्रक्रिया मिली है, उस दृष्टि से एक व्यक्ति उस प्रक्रिया को करता हुआ चला जाता है तथा दूसरे, किसी विशिष्ट कार्य के लिये विशेष पुरुषार्थ की प्रक्रिया अपनाई जाती है। उस विशेष प्रक्रिया के माध्यम से जीवन में विशेष लक्ष्य की सिद्धि की जाती है।

स्वाभाविक सहज प्रक्रिया तो प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। जब स्वतः अन्दर से भूख महसूस होने लगती है तो प्राणी भोजन प्राप्त करने की प्रक्रिया करता है। वैसे भूख का ऐसा हाल है कि सामने भोजन का प्रसंग आता है तो शरीर की संरचना के अनुसार भूख महसूस होने लगती है और उस समय भोजन मिल गया तो तृप्ति मिल जाती है। लेकिन इसके साथ ही भोजन करने की भूख तो महसूस तो हुई परन्तु इच्छापूर्वक उसे शमित करने का विशेष प्रयास किया जाता है तो भूख की वह महसूस बन्द हो जाती है। यह भी स्वाभाविक सहज प्रक्रिया है। जीवन में ऐसे कई प्रयोग स्वाभाविक तौर पर चलते रहते हैं। सहसा मौसम का परिवर्तन होता है तो शरीर के अमुक अवयवों पर उसका प्रभाव दिखाई देता है। सर्दी की मौसम में जुकाम हो सकता है-नाक से पानी गिरना शुरू हो सकता है। इन स्वाभाविक प्रक्रियाओं का कार्य प्राणी मात्र का चालू है। सब प्राणी अनादिकाल से कर्मों के अधीन बन कर भिन्न-भिन्न स्वाभाविक प्रक्रियाओं के अधीन हो चुके हैं भले उनका वह स्वभाव नहीं है, लेकिन दीर्घ काल से अभ्यास चला आता रहा है। कभी वह अभ्यास शुभ बनता है, कभी अशुभ बनता है और दोनों प्रकार के परिवर्तन के पुरुषार्थ इस आत्मा द्वारा चलते रहते हैं। ये प्रयास चैतन्य शक्ति के प्रयास होते हैं, क्यों कि जड़ स्वतः कुछ भी करने में अक्षम होता है। जड़ बेचारा क्या कर सकता है? जड़ को तो चैतन्य जिस तरह ढालता है, उसी रूप में वह ढल जाता है।

यह डंडा जो आपके सामने पड़ा है, जड़ है अथवा चैतन्य ? यह जड़ है और इसलिये जड़ है कि वह स्वयं अथवा स्वतः हिलता-डुलता नहीं है। यह खुद खड़ा नहीं होता-गुड़कता नहीं है। इसको कोई चैतन्य हिलाता है तभी हिलता है। यह बच्चा स्वयं दौड़ता हुआ आया-चाहे उसको यहां आने की प्रेरणा मिली हो-इसने सीढ़ियों का खयाल रखा और महाराज के पैर छूने थे सो छू लिये। यह चैतन्य है, इसलिये इसने इच्छा के अनुसार कार्य किया। जड़ के न इच्छा होती है, न कार्य शक्ति। चैतन्य इस जड़ को अच्छे रूप में भी प्रयुक्त कर सकता है, और बुरे रूप में भी। यह डंडा स्वतः न आपके ऊपर गिर सकता है, न दूसरे के ऊपर लेकिन जरिये से अपने जीवन में विशेषता प्राप्त करता है- अपने निर्माण में भी तथा प्रयोग में भी।

वैसे ही यह आत्मा इस जीवन में समय-समय पर स्वाभाविक प्रक्रियाओं के साथ पुरुषार्थ-मूलक नई नई प्रक्रियाएं भी करती रहती है। ऐसी पुरुषार्थ-मूलक प्रक्रियाओं को करने का उत्साह तथा अभ्यास जितना मानव को होता है, उतना अन्य प्राणियों को नहीं होता। अन्य प्राणी इतने ज्ञानमय नहीं होते, जितना यह मानव है। मनुष्य को आंतरिकता में जो कुछ अनिर्वचनीय शक्ति का प्रवाह है, वह अन्यान्य प्राणियों के लिये दुर्लभ है। आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाओं का उद्देश्य इसी शक्ति प्रवाह को सतत तथा संवेग प्रवाहित करना है।

शक्ति प्रवाह का प्रस्फुटन



जीवन में जब विशेष प्रयास रूप पुरुषार्थ का प्रयोग होता है और वह आत्मा की आन्तरिकता के साथ होता है तो उसके फलस्वरूप आत्मिक शक्ति के एक अपूर्व प्रवाह का प्रस्फुटन होता है। यह शक्ति प्रवाह आत्मा को कार्य करने की शक्ति देता है। इस शक्ति का प्रयोग आत्मा के उपयोग पर निर्भर करता है। मनुष्य प्रयत्न के साथ अपने जीवन में अच्छी या बुरी आदत डाल सकता है। इसके बाद भी वह बुरी आदत को अच्छी आदत में तथा अच्छी आदत को बुरी आदत में बदल सकता है। आदत डालना सहज है लेकिन आदत को बदलने में विशेष प्रयास की आवश्यकता होती है।

मनुष्य एक आदत डाल लेता है; लेकिन जब उसका भयावना परिणाम सामने आता है तो वह सोचता है कि यह आदत मुझे परेशान कर रही है-कष्ट दे रही है। तब उसका सोचना भी कष्ट पद हो जाता है, सोचने में भी ज्ञानी और अज्ञानी के बीच अन्तर होता है। सोचें कि शरीर के अन्दर फोड़ा हो जाता है और वह फोड़ा असह्य पीड़ा देता है तो ज्ञानी उसे इस विचार के साथ शान्ति से सह लेगा कि यह मेरे असाता वेदनीय कर्मों के उदय से हुआ है और अभी इसको शान्ति से सहलूंगा तो आगे के लिए फिर ऐसे ही कर्मों का बंध नहीं होगा। जबकि एक अज्ञानी उस पीड़ा को सहते हुए हाय-विलाप करता है, लेकिन यह नहीं सोचता। कि इस असाता वेदनीय कर्म को बांधने वाला मैं ही हूँ या फोड़ा दर्द कर रहा है तो इस दर्द को मैंने ही पैदा किया है। इस बात का ज्ञान सामान्य आत्मा नहीं कर सकती है।

आत्मा ही निज, स्वरूप निज स्वभाव तथा निज ज्ञान से विस्मृत बन जाती है कि यह पीड़ा पैदा करने वाली मैं हूँ। कोई दुश्मन बन कर सामने आया है और घातक प्रहार कर रहा है तो उसको अपना दुश्मन बनाने वाली भी मैं ही हूँ। रोग और दुश्मन तो निमित्त पाकर मेरे सामने आ गया है। यह विज्ञान यदि यह आत्मा करले तो पूर्व के अशुभ कर्मों का भी परिवर्तन हो सकता है और स्वाभाविक प्रक्रियाएं जो आत्मा के लिये मूल में दुःखदाई हैं-उनको भी नया सुखद मोड़ दिया जा सकता है। बहुत दिनों का अभ्यास होने से कई तरह की प्रक्रियाएं बन गई हैं और उनको सहज रूप में मोड़ना भी कठिन होता है।

यह आत्म पुरुषार्थ के प्रयोग से ही सफल बनता है, ज्यों ज्यों पुरुषार्थ का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है, त्यों-त्यों भीतरी शक्ति फूटती रहती है। दिशा निश्चित हो-लक्ष्य स्पष्ट हो तो फिर पुरुषार्थ और शक्ति प्रवाह दोनों एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। अधिक पुरुषार्थ से अधिक शक्ति फूटती है तो अधिक शक्ति के फूटने से अधिक पुरुषार्थ का प्रसंग बनता है और यह प्रसंग आत्मोर्ष के लक्ष्य से जुड़ जाता है तो वैसा आत्म-पुरुषार्थी व्यक्ति अपने जीवन को सर्वश्रेष्ठ बना लेता है। इस दृष्टि से जिन, भगवान् की वाणी के मर्म को हृदयंगम करने की प्रत्येक मानव को चेष्टा करनी चाहिये।

## काल की शुभता या अशुभता पुरुषार्थ पर निर्भर

मैंने काल की दृष्टि से संकेत दिया था कि काल को अच्छा भी बनाया जा सकता है तो बुरा भी। काल स्वतंत्र रूप से एक तत्व नहीं होता है। यह आत्मा के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है कि वह काल को किस रूप में ढालता है।

जब कोई आत्मा अपने निज के व्यवहार से अथवा दूसरे व्यक्ति की संगति से बुरी आदतें बना लेती है और जब उन बुरी आदतों का बुरा फल भयंकर रूप धारण कर लेता है तो उस समय वह काल भी उसके सामने विकराल बन जाता है। वैसी दशा में वीतराग वाणी कहती है कि सावधान बन जाओ- यह काल तुम्हारे लिये भयंकर बन चुका है। अब यह विश्वास करने योग्य नहीं है। जहाँ वीतराग देवों ने षड् द्रव्यों पर अपना विश्वास करने की बात कही है, शायद आपको मालूम न हो- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीव रूप इन षड्द्रव्यों में से काल के विषय में भगवान् ने एक दूसरे स्थल पर कहा है कि इस पर विश्वास मत करो-धोका मुहुत्ता अबलं शरीरं, भारंड पक्खी व चरेपमतो। यह मुहुत्त यह काल घोर है, निर्दयी है। एक समय मात्र का भी विश्वास मत करो तथा एक समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

यदि कोई पुरुष वीतराग वाणी के सारपूर्ण मर्म को नहीं समझता है तो वह उलझन में पड़ जायगा कि उधर तो षड्द्रव्यों के संदर्भ में काल पर विश्वास करने की बात कही है और दूसरे स्थान पर उससे विपरीत बात कह दी गई है। यह हकीकत में उलझन नहीं है। इसको सापेक्ष दृष्टि से समझने की जरूरत है। सापेक्ष दृष्टि से जो खोज करेगा, वह उलझन को सुलझा लेगा कि भगवान् ने वास्तविक दृष्टि से विवेचन किया है। काल के लिए कह दिया कि वस्तुस्थिति के मूल के अनुसार काल अहितकारी नहीं है, लेकिन मनुष्य उसका दुरुपयोग करके उसको अहितकारी बना लेता है। काल हितकारी है, उस पर विश्वास करें लेकिन इस विचार के साथ कि उसको अपनी शुभता के साथ जोड़ कर ही हितकारी बनाया जा सकेगा। काल के साथ अपनी अशुभता जोड़ते रहेंगे

तो उसका परिणाम अहितकारी तथा भयावह ही होगा। काल जब उस अशुभता का फल देने के लिए सामने आता है, तब भगवान् कहते हैं कि उस पर विश्वास मत करना ।

एक किसान अपने खेत में अफीम बोता है। जमीन में रस होता है और उस रस में जैसा बीज किसान डालता है, वैसा फल जमीन देती है। अब किसान अफीम का बीज बोता है तो अफीम का पौधा ही निकलेगा और अफीम का फल ही मिलेगा, इसमें जमीन का क्या अपराध है? किसान जैसा बोएगा, वैसा पाएगा। अफीम उसने बोई है तो कड़ुआ मुंह करेगा । अगर वह गन्ना बोता तो मीठा मुंह करता । इसलिए जब किसान को अफीम का फल मिलता है और उसको उसकी कड़ुआहट का अहसास होता है, तब चतुर व्यक्ति उस को समझाता है-देख अब आगे से अफीम का विश्वास मत करना । किसी समय अफीम को मुंह में रखेगा तो प्राण चले जायेंगे। काल शुभ या अशुभ नहीं होता, अपनी करनी शुभ या अशुभ होती है, जो फल देते समय काल को शुभ या अशुभ बना देती है।